विपश्यना पत्रिका संग्रह

(जुलाई १९७४ से जून १९७७ तक)

भाग-२

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना

पत्रिका संग्रह

भाग - २

(जुलाई १९७४ से जून १९७७ तक)

विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी

© विपश्यना विशोधन विन्यास
सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : अक्टूबर २०१२

मूल्यः रु.

ISBN 978-81-7414-343-3

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२ ४०३
जिला- नाशिक, महाराष्ट्र
फोनः ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४३७१२,
२४३२३८; फैक्सः ९१-२५५३-२४४१७६
Email: vri_admin@dhamma.net.in
info@giri.dhamma.org
Website: www.vridhamma.org

मुद्रकः
अपोलो प्रिंटिंग प्रेस
जी-२५९, सीकॉफ लिमिटेड, ६९ एम. आय. डी. सी.,
सातपुर, नाशिक-४२२००७, महाराष्ट्र

विषयानुक्रमणिका

पत्रिका संग्रह भाग २

(जुलाई १९७४ से जून १९७५ तक)

धर्म का सार ३
उद्‌बोधन : शुद्ध धर्म क्या है? ८
उद्‌बोधन : आत्म-संयम १०
'अणुव्रत' १०
धर्म का सही मूल्यांकन १६
उद्‌बोधन : सरल बनें! २३
समता धर्म २५
विपश्यना: विश्वजनीन ३१
विपश्यना: सुख से जीने की एक वैज्ञानिक कला ३९
उद्‌बोधन : मन का संवर ४५
विपश्यना चित्त शुद्धीकरण की साधना ४६
विपश्यना : उद्देश्य, पद्धति और विशेषताएं ५०
सयाजी ऊ बा खिन : कर्मठ जीवन ५७
सयाजी ऊ बा खिन: एक पावन स्मृति ५८
दान - चेतना ६२
उद्‌बोधन : विपश्यना क्या है? ६९

(जुलाई १९७५ से जून १९७६ तक)

विपश्यना-साधना: मेरे अनुभव ७५
क्या पड़ा है 'नाम' में ? ८०
शारीरिक व मानसिक बीमारी से बचने का उपाय ८४
विपश्यना ध्यान शिविर : स्वानुभव ८८
जीवन जीने की कला ८८
मानना (गुरुवचन) ८८
जानना (अनुभूति) ८९
चित्त की समता ८९

साधना ९०
तात्त्विक भूमिका ९१
पृष्ठभूमि ९१
धन्य विपश्यना! ९२
विपश्यना : जीवन जीने की कला ९६
विपश्यना साधना शिविर १०२
उद्‌बोधन : सुख बांटें १०५
विपश्यना की प्रगति हेतु शुभ-संदेश १०६
अभिनव प्रयोग! १०७
उद्‌बोधन ११२
उदान ११४
सम्यक धर्म १२०

(जुलाई १९७६ से जून १९७७ तक)

सत्य ही धर्म है। १२७
धर्म-दर्शन १३४
उदान (२) **१४१**
उदान (३) १४६
अधिष्ठान १४६
देखने मे मात्र देखना ही हो! १५२
उदान (५) १५९
आर्य-मौन १५९
अपराधी और विपश्यना १६६
सूक्ष्म दर्शन १७०
जेलें, अपराधी और विपश्यना १७६
विपश्यना की अतीत यात्रा १८२
विपश्यनाः दुःख-मुक्ति का मार्ग १८५
उद्‌बोधन १९०
विपश्यनाः दुःख-मुक्ति का मार्ग १९१
विपश्यना साहित्य १९५
विपश्यना साधना केंद्र १९८

पत्रिका संग्रह भाग - २

(जुलाई १९७४ से जून १९७५ तक)

धर्म का सार

आओ धर्म को समझें!

ठीक से समझा हुआ धर्म ही ठीक से पालन किया जा सकता है। धर्म के सार को समझेंगे तो ही उसे ग्रहण कर पायेंगे अन्यथा भीतर का सार छूट जायगा और ऊपर-ऊपर के छिलकों में ही उलझे रह जायँगे। उन्हें ही सार समझ कर धर्म मानने लगेंगे।

सार में तो सदा समानता ही रहती है। भिन्न-भिन्न तो छिल्के ही हुआ करते हैं और जहां इन छिल्कों को ही धर्म मान लिया जाता है वहां धर्म भी भिन्न-भिन्न हो ही जाते हैं। यह हिन्दुओं का धर्म - हिन्दुओं में भी सनातनी, आर्यसमाजी। यह बौद्धों का धर्म - बौद्धों में भी महायानी, हीनयानी। यह जैनियों का धर्म - जैनियों में भी दिगम्बर, श्वेताम्बर। यह ईसाइयों का धर्म - इसाइयों में भी कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट। यह मुसलमानों का धर्म - मुसलमानों में भी शिया, सुन्नी आदि आदि। धर्म भिन्न-भिन्न ही नहीं परस्पर विरोधी भी। निस्सार छिलकों को महत्त्व दिए जाने के कारण ही ये विभिन्नताएं और इन विभिन्नताओं को लेकर ये पारस्परिक विरोध उत्पन्न हो जाते हैं।

कोई चोटी रखे हुए है, कोई दाढ़ी। चोटी मोटी है या पतली? दाढ़ी मुंडा मूंछवाली या भरी मूछवाली? कोई सिर के बाल बढ़ाए हुए है – बाल खूब सजे सँवरे हैं या रूखे-सूखे जटा-जटिल? कोई सिर मुँडाए हुए है तो वह भी उस्तरे से या चिमटी से? किसी ने कान छिदवा रखे हैं तो उनमें बालियां पहनी हैं या कुण्डल या मुद्राएं? कोई तिलक लगाए हुए है तो तिलक चन्दन का है या रोली का है या भस्म का? इस आकार का है या उस आकार का? कोई माला पहने है तो वह रुद्राक्ष की है या चन्दन की या तुलसी की? बीच में लटकनवाली है या बिना लटकनवाली? यदि लटकनवाली है तो उसमें किस देवी, देवता, गुरु, आचार्य का चित्र या चिह्न लटकता है? कोई निर्वस्त्र है तो कोई वस्त्र पहने है। वस्त्र पहने है तो वह सिला है या अनसिला? इस रंग का है या उस रंग का? इस बनाव-कटाव का है या उस बनाव-कटाव का? धोती है? लुंगी है? पाजामा है? या पतलून है? कमीज है? कुर्ता है? अचकन है? या कोट है? दुपल्ली टोपी है? तुर्की टोपी है? या अंग्रेजी हैट है? कोई गले, भुजा, कलाई, पैर या अंगुलियों में डोरा बांधे है? अथवा जन्तर, ताबीज या गंडा? और उनमें कोई अंक है? या अक्षर है? या शब्द है? या मंत्र है? या यंत्र है? या तंत्र है? कोई हाथ में पात्र लिए है तो कोई करपात्री ही है। पात्र है तो मिट्टी का है? लकड़ी का है? लोहे का है? या अन्य किसी धातु का?

ये अनेक प्रकार के रूप भिन्न-भिन्न बाह्याडंबर, वेष-भूषा, आकार-प्रकार, बनावट-सजावट, भिन्न-भिन्न संप्रदायों के प्रतीक मात्र ही नहीं है, प्रत्युत भिन्न-भिन्न धर्म बन गए हैं और पारस्परिक विरोध का कारण बन गए हैं। कभी किसी धर्मनेता ने प्यासी जनता को अमृत जैसा धर्मरस दिया। परंतु जिस पात्र में दिया वह पात्र ही हमारे लिए प्रमुख हो गया। कालांतर में जब वह पात्र जीर्ण हुआ तो उसमें छेद हो गए और उसमें का सारा धर्मरस बह गया। खोखला पात्र ही हमारे पास रह गया। इस पात्र के रस को हमने जाना नहीं, चखा नहीं। इसलिए यह खोखला पात्र ही हमारे लिए धर्म हो गया और इसे छाती से चिपकाए रखने को ही हम जीवन की सार्थकता मानने लगे।

जैसे भिन्न-भिन्न रूपसज्जा वैसे ही भिन्न-भिन्न थोथे, निर्जीव, निष्प्राण कर्मकांड हमारे लिए धर्म बन गए हैं और हम उनसे भी गहरा चिपकाव करने लगे हैं। शुद्ध धर्म फिर छूट गया और हम चूल्हे को, चौके को, कच्ची या पक्की रसोई को, जात-पात को, छुआ-छूत को, इस या उस नदी, पोखरे अथवा समुद्र में नहाने को, इस या उस तीर्थ की यात्रा कर लेने को ही धर्म मानने लगे हैं। इस या उस मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, चैत्य, उपाश्रय, गुरुद्वारे में सुबह शाम हाजिरी दे आने को ही धर्म मानने लगे है। पूर्व या पश्चिम की ओर मुँह करके, खड़े होकर या बैठकर, घुटने मोड़कर या पाल्थी मारकर, हाथ जोड़कर या अंजली पसारकर, पंचांग, अष्टांग या दंडवत प्रणाम करके, इस या उस देवी, देवता, गुरु, आचार्य या धर्मनेता की तस्वीर या मूर्ति या चरणचिह्न या पादपीठ या धातु-अवशेष अथवा उसके उपदेश-ग्रन्थ के सामने वंदना करने, सिर झुकाने, दीप जलाने, नैवेद्य चढ़ाने, आरती उतारने, शंख बजाने, घंटे-घड़ियाल बजाने, नाचने, गाने, अजान पढ़ने, स्तोत्र पढ़ने, उसके नाम की माला जपने अथवा उसकी वाणी के पाठ करने को ही धर्म मानने लगे हैं। भले यह सब यंत्रवत ही क्यों न होता हो। इसी प्रकार भयभीत चित्त द्वारा किसी की मनौती मनाने, प्रसाद चढ़ाने, जात-झुड़ला जादू-टोना अथवा झाड़-फूक करने को ही धर्म मानने लगे हैं। किसी अज्ञात अदृश्य सत्ता को संतुष्ट प्रसन्न करने के लिए मुर्गी, बकरे, गाय, भैंसे या मनुष्य तक की बलि चढ़ाते हैं और इसे भी धर्म ही मानते हैं। कोई-कोई बलि चढ़ाते हुए एक झटके में धड़ से सिर अलग करने को धर्म मानते हैं और कोई-कोई धीरे-धीरे तड़पा-तड़पा कर मारने को धर्म मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न कर्मकाण्डों को ही धर्म मानने लगे हैं इसलिए ऐसा धर्म बाजार में भी बिकने लगा है। चाहें तो पैसे के बल पर हम धर्म खरीद सकते हैं। जो कर्मकांड स्वयं नहीं कर सकते, उसे भाड़े के लोगों से करवा सकते हैं। सत्य धर्म का कैसा अवमूल्यन किया है हमने!

सत्य धर्म की उपलब्धि के लिए हमें जो साधन मिले, हमारी नासमझी के कारण वे ही हमारे लिए बंधन बन गए। कभी किसी सत्पुरुष ने हमें अंधकार में भटकते देखकर अत्यंत करुणचित्त से हमारे हाथ में कोई जलती हुई मशाल पकड़ायी ताकि उसके प्रकाश के सहारे हम सही रास्ते चलकर अपनी जीवन-यात्रा सकुशल पूरी करें। परंतु कालांतर में उस मशाल की ज्योति बुझ गई। हमारे हाथ में केवल डंडा रह गया और हम मूढ़तावश उस डंडे को ही मशाल मानकर उससे चिपक गए। शिव छूट गया, शव रह गया। थोथा बाह्याचार ही हमारे लिए धर्म बन गया। ऐसी दयनीय स्थिति में आकंठ डूबा होने के कारण ही कोई प्रवासी भारतीय कहता है, 'मुझे बर्मा आए चालीस वर्ष हो गए। यहां आकर मैंने चोरियां भी कीं, छल-कपट भी किया, व्यभिचार भी किया, नशा-पता भी किया, लेकिन अपना धर्म नहीं छोड़ा।" "कैसे धर्म नहीं छोड़ा?" पूछने पर बड़े सहजभाव से जवाब देता है, "इन चालीस बर्षों में मैंने कभी किसी बर्मी के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पिया।" कैसी दयनीय दशा बना ली है हमने बेचारे धर्म की।

कभी-कभी यह भी होता है कि इन बाह्याचार और बाह्याडंबर रूपी छिलकों को तो हम धर्म नहीं मानते, परंतु इनकी जगह ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्म छिल्कों को धर्म मानने लगते हैं जो कि अधिक भ्रामक होते हैं और अधिक कठिन बंधनतुल्य होते हैं। जब हम किसी अंध-मान्यता को अथवा अंध भावावेश को अथवा बौद्धिक तर्कजाल को ही धर्म मानने लगते हैं तो उसमें और बुरी तरह उलझ जाते हैं। हम जिस परिवार में जन्मे हैं, जिस परिवेश में पले हैं, उस वंशपरंपरा की किसी मान्यता के बारे में बार-बार सुनते रहे हैं। अतः उस मान्यता की लकीर बार-बार मन पर पड़ते-पड़ते इतनी गहरी बन गई है कि उसे छोड़कर और कोई मान्यता भी सही हो सकती है, इसे स्वीकार करने तक को तैयार नहीं होते। हम जिस दार्शनिक परंपरा को मान रहे हैं, उसके साथ हमारा एक भावनात्मक संबंध जुड़ जाता है - फलस्वरूप उसके विपरीत अन्य किसी दृष्टिकोण को कभी स्वीकार ही नहीं कर सकते। अथवा यह भी होता है कि अपनी तर्कबुद्धि से हमने किसी मान्यता को अपना लिया है तो अपने ही बुद्धिबल को अत्यधिक महत्त्व देते रहने के स्वभाववश अन्य किसी मान्यता को सही मानने को प्रस्तुत ही नहीं होते। परंपरागत मान्यता के कारण, हृदयगत भावुकता के कारण, अथवा बौद्धिक तर्कजाल के कारण, हम किसी भी मान्यता के गुलाम हो जाते हैं तो उसके प्रति इतनी गहरी आसक्ति पैदा कर लेते है कि हमेशा के लिए उसी के रंग का चश्मा पहन लेते हैं। अतः उस रंग के अतिरिक्त अन्य कोई रंग हमें दीखता ही नहीं। इस प्रकार सच्चाई से दूर हो जाते हैं, शुद्ध धर्म से दूर हो जाते हैं। क्योंकि हर बात को अपने ही चश्मे के रंग से देखने के आदी हो जाते हैं।

अंधविश्वास, भावावेश अथवा बौद्धिक ऊहापोह के आधार पर मान लो हमने कोई सही सिद्धांत ही स्वीकार कर रखा हो, परंतु उसके प्रति हुई आसक्ति के कारण उस सिद्धांत को स्वीकारने मात्र को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं उसके व्यावहारिक पक्ष को सर्वथा भुला देते हैं। किसी सिद्धांत को स्वीकारने मात्र से क्या बनता है? मुख्य बात तो उस सिद्धांत को, यदि वह सही है तो, जीवन में उतारना है। जो जीवन में उतरे वही सही धर्म है अन्यथा निस्सार भावुकता है, थोथा बुद्धि-विलास है।

सैद्धांन्तिक स्तर पर हम आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या निरीश्वरवादी, द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी। इतने प्रकार के तत्त्वों की संख्या गिनने वाले हैं या उतने प्रकार के तत्त्वों की, इन-इन तत्त्वों की ऐसी-ऐसी व्याख्या करने वाले हैं या वैसी-वैसी, इससे क्या अंतर पड़ता है? मुख्य बात तो यह है कि व्यावहारिक जगत में हम शुद्ध चित्त का जीवन जी रहे हैं या नहीं? अपने आपको ईश्वरवादी कहने वाला व्यक्ति कल की चिंता में कितना व्याकुल हो रहा है? अपने आपको अनात्मवादी कहने वाला व्यक्ति अपने अहं में किस कदर डूबा हुआ है? ऐसी अवस्था में कोरा सैद्धांतिक पक्ष किस काम का? मुख्य बात तो व्यावहारिक पक्ष की है, आचरण की है। शुद्ध चित्त के आचरण का नाम ही धर्म है। कोई विशेष वेषभूषा पहनें या न पहनें, कोई विशेष कर्मकाण्ड संपन्न करें या न करें, कोई विशेष दार्शनिक मान्यता मानें या न मानें, परंतु यदि हमारा मन-मानस द्वेष-दौर्मनस्यता से भरा रहता है तो हम सर्वथा धर्महीन ही धर्महीन हैं। और यदि वह स्नेह-सौमनस्यता से भरा रहता है तो हम धर्मवान ही धर्मवान हैं। कोई वेष-भूषा, कोई कर्म-कांड, कोई दार्शनिक मान्यता हमारे चित्त की विशुद्धि में सहायक सिद्ध होती है तो ग्राह्य है और यदि हमारी चित्तशुद्धि से उसका कोई सरोकार नहीं तो निरर्थक ही है, निस्सार ही है। परंतु यदि कहीं वह हमें धर्मवान होने की मिथ्या भ्रांति पैदा करने वाला हो तो जहरीले सांप की तरह बहुत खतरनाक है। अतः सर्वथा त्याज्य है। जब हम धर्म के सत्यसार को नहीं समझते तो ऐसे ही खतरनाक जहरीले सांप बिच्छू अपने भीतर पालते है। भांति-भांति के गंदे कूड़े-करकट बटोरकर अपनी छाती से लगाते हैं और कहते हैं– यही हमारा धर्म है, यही अनमोल रत्न है, यही मणि है।

जब तक हमें धर्म की वास्तविक मणि नहीं प्राप्त होती, तब तक हम कंगाल ही हैं। हमारा जीवन निस्सार दिखावे, निरर्थक कर्मकांड और निकम्मे बुद्धि-किलोल से ही भरा रहता है। परंतु इतना होते हुए भी यदि हम इस सच्चाई को समझते हों कि यह सब तो सारहीन छिलके हैं। धर्म का सार तो चित्त की शुद्धता में है, राग-द्वेष-मोह के बंधनों से मुक्त होने में है, विषम स्थितियों में भी

चित्त की समता बनाए रखने में है, मैत्री करुणा, मुदिता में है और साथ-साथ यह भी समझते हों कि यह गुण तो हममें नहीं है; तो देर सबेर हम धर्म के सार को प्राप्त कर ही लेते हैं। लेकिन जब हम इन निस्सार छिल्कों को ही धर्म मानने लगते हैं तो हमारे लिए शुद्ध धर्म प्राप्त कर सकने की सारी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं। हम इन बाह्य छिल्कों में रमे हुए कभी भीतर की ओर निहारते ही नहीं, आत्म-निरीक्षण करते ही नहीं। यह जांच हम कभी नहीं करते कि जिसे धर्म माने जा रहे हैं, उसकी वजह से हमारे मन मानस में क्या सुधार हो रहा है? हमारे जीवन-व्यवहार में क्या सुधार हो रहा है? जन्म-मरण से मुक्ति पाने की हजार चर्चाएं करेंगे, हजार आशाएं बांधेंगे, परंतु यहां इसी जीवन में मन को विकारों से मुक्त करने का जरा भी प्रयत्न नहीं करेंगे। धर्म का सार छूट जाने से जितनी बड़ी हानि होती है, उससे कई गुना बड़ी हानि निस्सार को सार समझकर उससे चिपक जाने से होती है। इससे तो रोग असाध्य हो उठता है।

धर्म की शुद्धता को जानना, समझना, जांचना, परखना, रोग-मुक्ति का पहला आवश्यक कदम है, धर्म शुद्ध होता है तो सदा स्पष्ट और सुबोध ही होता है। उसमें कोई रहस्यमय गुत्थियां नहीं होतीं। कोई पहेली बुझौवल नहीं होता। कोई दिमागी कसरत नहीं होती। प्रतीकों और अतिशयोक्तियों से भरा हुआ कोई पांडित्य प्रदर्शन नहीं होता। जो कुछ होता है, वह सहज-सरल ही होता है। धर्म की शुद्धता इसी में है कि उसमें अटकलपच्चू कपोल कल्पनाएं नहीं होतीं। धर्म कोरा-मोरा सिद्धांत निरूपण नहीं होता, स्वयं साक्षात्कार करने के लिए होता है, स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म राजमार्ग की तरह ऋजु होता है। उसमें अंधी गलियों जैसा भूल-भुलैया नहीं होता। धर्म यहीं, इसी जीवन में लाभ देने वाला होता है। जितना-जितना अभ्यास किया जाय उतना-उतना लाभ देता ही है। धर्म आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अंत में कल्याणकारी, हर अवस्था में कल्याणकारी ही होता है। धर्म-सर्वसाधारण के लिए समानरूप से ग्रहण करने योग्य होता है। ऐसा हो तो ही धर्म, यथार्थ धर्म है, शुक्ल धर्म है, शुद्ध धर्म है। अन्यथा धर्म के नाम पर कोई धोखा हो सकता है।

उद्‌बोधन : शुद्ध धर्म क्या है?

वाणी के कर्म शुद्ध रखें, शरीर के कर्म शुद्ध रखें, आजीविका शुद्ध रखें, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास शुद्ध रखें, जागरूकता का अभ्यास शुद्ध रखें, समाधि का अभ्यास शुद्ध रखें, मानसिक चिंतन शुद्ध रखें, जीवन-जगत के प्रति दृष्टिकोण शुद्ध रखें, यही तो शुद्ध धर्म है।

मोटे-मोटे तौर पर कह सकते हैं :–

१. **दान** - अहंकार विहीन अपरिग्रह हेतु दिया गया दान शुद्ध धर्म है।

२. **शील** - सदाचार का पालन करना, हिंसा, चोरी, व्यभिचार और नशे के सेवन से विरत रहना शुद्ध धर्म है।

३. **समाधि** - मन को वश में करना, उसे एकाग्र कर वर्तमान के प्रति सजग रखने का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

४. **प्रज्ञा** - "मैं" "मेरे" अथवा प्रिय-अप्रिय मूलक राग-द्वेष से रहित होकर हर व्यक्ति, वस्तु और स्थिति को जैसी है, वैसे यथाभूत प्रज्ञापूर्वक देखने का अभ्यास, चित्त की समता का अभ्यास शुद्ध धर्म है।

दान, शील, समाधि और प्रज्ञा के ये चारों अभ्यास सार्वजनीन हैं, सांप्रदायिकता-विहीन हैं, सर्वजनहितकारी हैं, सर्वग्राह्य हैं।

इसीलिए छिलकों से परे शुद्ध धर्म है। परंतु ऐसे शुद्ध धर्म का अभ्यास तो हम करें नहीं और चाहें भी कि हम धर्मवान हों और उससे भी अधिक यह चाहें कि लोग हमें धर्मवान समझें तो धर्म के नाम पर विज्ञापनबाजी ही करने लगते हैं। नाना प्रकार के भेष बनाते हैं, नाना प्रकार के थोथे बाह्याचार करते हैं, नाना प्रकार के दार्शनिक वाद-विवाद करते हैं, वाणी-विलास और बुद्धि-विलास करते हैं। और इस प्रकार आत्म-प्रवंचना व जग-प्रवंचना के जंजाल में बुरी तरह जकड़ते जाते हैं। न आत्महित सधता है न परहित।

आत्महित और परहित के लिए शुद्ध धर्म का जीवन जीना अनिवार्य है। शुद्ध धर्म का जीवन जीने के लिए धर्म की शुद्धता को जानना अनिवार्य है। धान को भूसे से अलग करना, सार को छिलके से अलग करना अनिवार्य है। सार को देखना सीखेंगे तो ही सार ग्रहण किया जा सकेगा।

शुद्ध धर्म का सार नहीं ग्रहण करेंगे तो द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य, दुराग्रह, अभिनिवेश, हठधर्मी, पक्षपात, संकीर्णता, कट्टरता, भय, आशंका, अविश्वास,

आलस, प्रमाद, कठमुल्लेपन से भरा हुआ जीवन, निस्तेज, निष्प्राण, निरुत्साही ही होगा, कुत्सित, कलुषित, कुटिल ही होगा; व्याकुल, व्यथित, व्यग्र ही होगा। शुद्ध धर्म का सार ग्रहण कर लेंगे तो प्यार और करुणा, स्नेह और सद्भाव, त्याग और बलिदान, सहयोग और सहकार, श्रद्धा और विश्वास, अभ्युदय और विकास से भरा हुआ जीवन ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी ही होगा, उदात्त, अभय, चिंतारहित ही होगा, सहज, सरल, स्वच्छ ही होगा। मंगल, कल्याण, स्वस्ति से भरपूर ही होगा।

शुद्ध धर्म का यही प्रत्यक्ष लाभ है। शुद्ध धर्म के सार की यही कसौटी है।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ आषाढ़ पूर्णिमा दि. ०४-०७-७४ अंक १)

उद्‌बोधन : आत्म-संयम

आओ! आत्म-संयम सीखें! आत्म-संयम बड़ा कल्याणकारी है!

औरों को अनुशासित करने के पहले स्वयं अपने आपको शासित करें, अपने आपको संयमित करें। औरों को जीतने के पहले अपने आपको जीतें। जिसने अपने आपको जीत लिया उसने मानों सारे जग को जीत लिया। परंतु जो अपने आपको नहीं जीत सका, वह और सबों को जीतकर भी हारा हुआ ही रह गया।

अपने आपको जीतने का नाम ही आत्म-संयम है। आत्म-संयम होगा तो आत्मबल बढ़ेगा, आत्म-पुरुषार्थ बढ़ेगा। आत्मबल और आत्मपुरुषार्थ से ही सच्चा आत्महित सधेगा। आत्महित साधने पर ही परहित सध सकेगा। अपना भला नहीं कर सकेंगे तो औरों का क्या भला कर पायँगे? जो स्वयं अंधा है, वह औरों को क्या रास्ता बता पायगा? जो स्वयं लंगड़ा है वह औरों को क्या सहारा दे पायगा? अतः परहित के लिए भी और आत्महित के लिए भी, आत्म-संयम सीखें। अपने कायिक, वाचिक और मानसिक दोषों का निरीक्षण करते रहें और इन्हें ही अपना सबसे बड़ा शत्रु मानकर इनसे ही युद्ध करते रहें। जब तक एक भी दोष कायम है, तब तक उससे जूझते ही रहें। किसी भी दोष को छोटा मानकर उसकी उपेक्षा, अवहेलना न करें। उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए सतत प्रयत्न करते रहें। आत्म-दोषों के उन्मूलन के लिए ही आत्म-संयम है।

साधको! आत्म-संयम सचमुच बड़ा कल्याणकारी है! बड़ा मंगलकारी है! आओ, आत्म-संयम सीखें!

---o---

'अणुव्रत'

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसीजी की धर्म पत्रिका

[विज्ञप्ति संख्या नं. २४२] से साभार उद्‌धृत

('अणुव्रत अनुशास्ता, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसीजी के आमंत्रण पर पूज्य गुरुजी श्री सत्यनारायणजी गोयन्का ने गत २८ अप्रैल से ८ मई १९७४ तक दिल्ली में विपश्यना साधना का एक शिविर आयोजित किया था जिसमें आचार्य

श्री तुलसीजी के अनेक सहयोगी मुनिगण एवं साधु-साध्वियों ने भाग लिया था। इसी विपश्यना शिविर के बारे में उनकी अणुव्रत पत्रिका विज्ञप्ति संख्या २४२ में जो उल्लेख आया है उसका कुछ अंश यहां दिया जा रहा है।

इस वर्ष भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण तिथि एक महोत्सव के रूप में समग्र भारत में मनायी जा रही है। विपश्यना साधना जैन अध्यात्म के बहुत निकट की वस्तु है, अतः जैन समाज के कई प्रबुद्ध एवं विद्वान कार्य-कर्ताओं का प्रयत्न है कि भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव को विपश्यना साधना द्वारा आदरांजलि अर्पित कर मनाया जाय। जैन समुदाय द्वारा भारत के कुछ एक स्थानों पर इस वर्ष विपश्यना के शिविर लग रहे हैं। संपा.)

मुंबई प्रवासी श्री सत्यनारायणजी गोयन्का साधना के क्षेत्र में आनापानसति और विपश्यना का विशेष अभ्यास कराते हैं। बर्मा में रहकर उन्होंने इस पद्धति का गहराई से अध्यात्म (अंतर्मुखी होकर स्वयं अनुभव करने को ही अध्यात्म कहते हैं।)और अनुशीलन किया है। यद्यपि यह पद्धति बौद्धों की है किंतु ऐसा लगता है कि इसमें मात्र नाम-भेद ही है। मूलतः जैन परंपरा से इसका प्रसार करे अथवा एक बौद्ध यदि जैनों के नाम से इसका प्रसार करे तो कोई अंतर पड़ने वाला नहीं है।

हिंदी जगत के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री यशपालजी जैन की भावना थी कि गोयन्काजी के सान्निध्य में एक शिविर यहां आयोजित किया जाय ताकि उसकी उपयोगिता का और अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सके। श्री गोयन्काजी आए। आचार्यश्री से वार्ता हुई और शिविर का निश्चय किया गया। अध्यात्म साधना केंद्र में वह २८ अप्रैल से प्रारंभ हुआ। उसमें भाग लेने वालों का क्रम यह था–

साधु सात; साध्वियां- दस; पारमार्थिक शिक्षण संस्थाओं से आईं बहनें - बाईस, - पुरुष साधक छह, अन्य बहनें- सात; विदेशी महिला एक।

इस साधना-शिविर में प्रतिदिन ग्यारह घंटा सामूहिक तथा व्यक्तिगत साधना चलती थी और एक घंटा चर्चा होती थी। शिविर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें प्रतिक्षण अप्रमाद और जागरूकता का अभ्यास कराया जाता था। प्रतिक्षण वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह रहने का प्रशिक्षण मिलता था। द्रष्टा भाव और साक्षी भाव से सूक्ष्मता की गहराई में पहुँचकर शरीर और चित्त की सूक्ष्म संवेदना को जानने की प्रेरणा दी जाती थी। प्रारंभ के तीन दिनों तक आनापान की गहराई तक पहुँचने के पश्चात चौथे दिन विपश्यना का अभ्यास कराया गया। प्रत्येक अगला कदम पिछले कदम से आगे होता था। **'आत्मान्यपुद्गलश्चान्य;**'का

स्पष्ट दर्शन इससे प्राप्त होने लगा था। आठवें दिन मैत्री भावना के प्रयोग का प्रशिक्षण दिया गया। कुल मिलाकर १० दिन ऐसे पूरे हो गये मानो कोई निमिष मात्र का समय बीता हो।

इस सारी प्रक्रिया में जैन और बौद्ध परंपरा में भेद जैसा कुछ नहीं था। साधक प्रसन्न थे कि उन्हें अपनी ही उपयोगी पद्धति का बोध मिल रहा है और गोयन्काजी प्रसन्न थे कि ग्राहक बुद्धि वाले श्रमण इस शिविर में मिले। मुनिश्री नथमलजी यदा-कदा जैन दर्शन का बौद्ध परंपरा के साथ तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते तो गोयन्काजी प्रसन्न होते थे कि श्रमण परंपरा की दो धाराओं में कितना अधिक सामंजस्य है और दोनों ही कितनी अधिक समृद्ध हैं।

शिविर के समापन का वातावरण अत्यंत हृदयग्राही था। सब के मन गद्गद थे। सबके मन में इस बात का संतोष था कि लम्बे समय से उन्होंने अपनी ही चीज जिसे वे खोज रहे थे, पाई है। आचार्यश्री के अंतःकरण की भावना थी कि श्रमण परंपरा के अनुरूप एक स्वतंत्र साधना पद्धति विकसित होनी चाहिए जो अध्यात्म की गहराइयों में ले जाने के लिए सक्षम हो। यह साधना पद्धति उस दिशा में एक नया उन्मेष था।

२९ अपैल से प्रारंभ होकर ८ मई को शिविर संपन्न हुआ। ता. ९ मई को सभी साधक साधु-साध्वियां आचार्यश्री के सान्निध्य में उपस्थित हुए। सबके चेहरे प्रसन्न थे क्योंकि उनकी मनोभावना के अनुरूप इस शिविर में पर्याप्त सफलता मिली थी। इस संदर्भ में साधु-साध्वियों की सामूहिक गोष्ठी में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए आचार्य प्रवर ने कहा - साधक के लिए साधना वैसे ही अनिवार्य है, जैसे चेतन के लिए चैतन्य। जैसे चैतन्य के बिना चेतन नहीं रहता, वैसे ही साधना के बिना साधक नहीं रहता। साधना की विशेष उपलब्धि का प्रयत्न पिछले अनेक वर्षों से किया जाता रहा है किंतु इन वर्षों में उस पर और अधिक तीव्रता से बल दिया गया। उसके लिए अनेक प्रयोग भी किये गये। कभी प्रणिधान कक्ष चलाए गये तो कभी साधना के लिए विशेष संकल्प सूत्रों का निर्माण किया गया। कुछ शिविरों का आयोजन भी मात्र इसी दृष्टि से किया गया। हमने साधना करने वाले अन्य अनुभवी व्यक्तियों और साधकों को भी प्रोत्साहित किया, ताकि वे भी हमें इस दिशा में कुछ बतलाएं। इस विषय में जहां से जो मिलता, उसमें हमने कृपणता और अनुदारता नहीं बरती, बल्कि हृदय से उसे ग्रहण करने का प्रयत्न किया। किंतु मुझे स्पष्ट कह देना चाहिए कि हमें बाहर से बहुत कम उपलब्धि हुई है। अंदर की उपलब्धि भी तब तक नहीं होती जब तक उसके लिए पूर्ण तैयारी न हो।

भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी के इस वर्ष में मेरी अत्यंत तीव्र इच्छा थी कि साधना के क्षेत्र में और अधिक विशेष उपलब्धि और उन्मेष प्राप्त हो। जहां चाह होती है, वहां राह भी अपने आप मिल जाती है और उसका एक क्रम प्रारंभ हो गया। क्रम के साथ-साथ हमारा श्रम भी चालू हो गया। पर वह व्यवस्थित नहीं था। संघीय व्यवस्था आदि के कारण उसमें कुछ कठिनाइयां थीं।

इस बार दस दिनों का यह साधना शिविर हमारी उपलब्धि में विशेष हेतु बना क्योंकि अन्यान्य साधक व्यक्तियों के शिविरों में वीतरागता और निर्मोहता के प्रति आकर्षण नहीं मिलता था। इस शिविर में अप्रमाद, जागरूकता, वीतरागता, वीतद्वेषता और निर्मोहता पर अधिक बल दिया गया। इसमें **'अप्पा दीवो भव संपिक्खए अप्पगमप्पएणं',** आदि की हमारी अपनी ही पद्धति सामने आई।

हमने गोयन्काजी को याद किया। वे आए। जिन साधु-साध्वियों ने इस शिविर में भाग लेने के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की, उन सबको मैंने निसंकोच भाव से अनुमति दी। मैंने मुनि नथमलजी को इस शिविर में भाग लेने के लिए विशेष रूप से कहा ताकि हमारी अपनी पद्धति का इसके साथ जो सामंजस्य और तारतम्य है, वह भी तुलनात्मक रूप से स्पष्ट हो सके। साधु-साध्वियां इस शिविर में गये। पारमार्थिक शिक्षण संस्था की बहनों ने भी भाग लिया। इसके संबंध में अनेक प्रकार की अन्यथा आशंकाएं भी व्यक्त की गईं किंतु मेरा अपना स्वभाव और प्रकृति है कि इन सब पर अनपेक्षित ध्यान नहीं देता। मुझे प्रसन्नता है कि जो भी शिविर में गये उन सबका मन उसमें लग गया। मन भी क्यों न लगे। क्योंकि वह तो हमारा बच्चा है। वह हमारे हाथ में है अतः लगना ही चाहिए। शिविर में भाग लेने वाले सब संतुष्ट हैं, एक भी असंतुष्ट नहीं है। अतः मैं भी संतुष्ट हूं। मैंने सबसे पूछा कि यह पद्धति तुम्हें कैसी लगी? सबने कहा 'यह तो हमारी अपनी ही पद्धति है।' अतः सब कुछ अपना जैसा ही लगा।

गोयन्काजी की पद्धति बौद्ध दर्शन पर आधारित है किंतु यह भी एक अनुभव लेने जैसी बात थी कि जैनों और बौद्धों में कितना साम्य है। गोयन्काजी बर्मा में अधिक रहे हैं। बर्मी भाषा और साहित्य का उन्होंने अध्ययन किया है। उन्होंने भी जैनों के अनेक तत्त्वों को उपयोगी महसूस किया और ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। आमतौर से एक आशंका की जाती थी कि इस बौद्ध पद्धति से क्या हमारे संघ में बौद्धों का प्रभाव नहीं आ जायगा? किंतु मैं देखता हूँ कि यह बहुत स्थूल बात है। स्थूलता में गहराई नहीं होती। मुझे लगता है कि अच्छी बात कहीं भी मिले, उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं होना चाहिए। शिविर के इस प्रयोग को मैं साधना के क्षेत्र में एक नए उन्मेष का शुभारंभ मानता हूं।

मेरे मन में बार-बार एक प्रश्न उपस्थित होता था कि प्रतिवर्ष दीक्षाएं होती हैं। उन नव दीक्षित साधु-साध्वियों के मन में संयम के प्रति आस्था का निर्माण कैसे किया जाना चाहिए?

आस्था का निर्माण प्रयोग से होता है, उपदेश से नहीं। इस दृष्टि से इस प्रयोगात्मक पद्धति को मैं शुभ मानता हूं।

आचार्य भिक्षु ने कहा - **गण में रहे निर्दवि अकेलो-साधु** समूह के साथ में भी अपने को विविक्त महसूस करे। इस पद्धति से इसका प्रायोगिक रूप हमारे सामने आता है। संघ के साथ संपृक्त साधु भी अपने को विविक्त अनुभव करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है -

आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं, सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिए।
निकेय निच्छेज्ज विवेग जोगं, समाहि कामे समणे तवस्सी॥

समाधि चाहने वाले श्रमण का आहार मित और वांछनीय अर्थात साधना के अनुकूल होना चाहिए। उसको किसी साधना के समझदार और निपुणबुद्धि वाले का सहयोग प्राप्त करना चाहिए। उसका स्थान विविक्त और उपयुक्त होना चाहिए। इस शिविर में इन तीनों बातों का व्यावहारिक रूप था।

हमारे धर्मसंघ के बहिर्विहारी साधु-साध्वियां जो विशेष साधना में संलग्न हैं, उन्हें हर्ष होना चाहिए कि हम साधना की एक अच्छी विधि तैयार कर रहे हैं। मेरे मन में यह भेद नहीं कि यह साधना किस पद्धति की है। हमें तो साधना चाहिए। नाम में नहीं उलझना है कि हम किसी को बुद्ध कहें या अरिहंत - नाम से कोई फर्क नहीं पड़ता। हम प्रतिदिन की अर्हंत वंदना में कहते भी हैं– **'जे यं बुद्धा अइक्कँता, जे य बुद्धअणागया'** हमे देखना है कि मूल पद्धति क्या है? जो हम चाहते थे, वह हमें प्राप्त हुआ है। अतः यह प्राथमिक शिविर मेरे लिए बहुत संतोषप्रद है।

साधना के क्षेत्र में आज केवल साधु-साध्वियों का प्रश्न ही नहीं बल्कि समाज के हजारों अध्ययनशील व्यक्तियों का भी प्रश्न है। हमें उनके दिमाग को भी अपेक्षित समाधान देना है। समाधान के अभाव में कोई कहीं भटक रहे हैं। मैं उन्हें कहना चाहता हूं कि वे भटकें नहीं। सही रास्ते पर आएं। उन्हें एक ऐसी पद्धति बतलाई जायगी ताकि उनका समाधान हो। मुझे विश्वास है कि ऐसी पद्धति विकसित होने से समाज के अनेक होनहार युवक इसमें अपना जीवन लगा देंगे।

कुल मिलाकर इस बार का वातावरण अच्छा रहा। पूर्ण आस्था का विकास हुआ है तथा जिनमें आस्था कम थी, उसमें नई आस्था जागी है। जैन विश्व भारती के माध्यम से हमें इस पद्धति को उत्तरोत्तर विकसित करना है।

– आचार्यश्री तुलसी

दिनांक १२ मई को अपने रविवारीय वक्तव्य में आचार्यश्री ने कहा– "इस थोड़े से समय में आपके सामने तीन-तीन कार्यक्रम आए। पहले में मैंने अपने ध्यान का अभ्यास किया। दूसरे और तीसरे में साध्वी सुमनश्री और साध्वी यशोधरा (इन दोनों साध्वियों ने श्री गोयन्काजी के विपश्यना शिविर में भाग लिया था। स.) के वक्तव्य सुने। आपने देखा इन साध्वियों ने स्त्रियां होते हुए भी पुरुषों के कान खड़े कर दिये। इसका कारण यह है कि इनके भीतर से साधना बोलती है। रंग स्वयं घुलकर ही अन्य वस्त्रों को रंग सकता है। वैसे ही स्वयं प्रभावित व्यक्ति ही दूसरों को प्रभावित कर सकता है। किसी दूसरे प्रभाव से प्रभावित नहीं अपितु स्वयं की साधना, श्रद्धा और आचरण से प्रभावित व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है।"

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ श्रावण पूर्णिमा दि. ०३-०८-७४ अंक २)

धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। सही-सही मूल्यांकन करते रहेंगे तो ही दृष्टि सम्यक रहेगी। तो ही नीर-क्षीर विभाजन-विवेक कायम रहेगा। तो ही धर्म-पथ पर अपना संतुलन बनाए रख सकेंगे। अन्यथा धर्म का ही कोई एक अंग आवश्यकता से अधिक प्राप्त कर धर्म-शरीर की सर्वांगीण उन्नति में बाधक बन जायगा। सम्यक दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है उसको उतना ही महत्त्व दें। न अधिक, न कम। कंकड़, पत्थर, कांच, हीरा, मोती, नीलम, मणि सबका अपना-अपना मूल्य है। मिट्टी, लोहा, तांबा, पीतल, चांदी, सोना, सबका अलग-अलग मूल्य है। और जिसका जितना मूल्य है उसका उतना ही है। कांच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी सब धान पांच पसेरी नहीं तोले जाने चाहिए। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा का अविवेकी मूल्यांकन नहीं होना चाहिए। अन्यथा या तो किसी निस्सार छिल्के को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के किसी नन्हें से प्राथमिक कदम को ही सब कुछ मान बैठेंगे और शुद्ध धर्म की उच्चतम अवस्थाएं कभी प्राप्त ही न कर सकेंगे।

मसलन-दान देना अच्छा है। धर्म का एक अंग है। परंतु धर्म की कसौटी पर दान का भी तो अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए, वित्तीय मूल्यांकन नहीं, नैतिक मूल्यांकन। दान अधिक है या कम इसका कोई अर्थ नहीं होता। परंतु दान देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही महत्त्व की बात है। दान देते समय चित्त में क्रोध है, चिड़चिड़ाहट है, घृणा है, द्वेष है, भय है, आतंक है, बदले में कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है, यश की प्रबल कामना है, प्रतिस्पर्धा का उत्कट भाव है तो ऐसा दान शुद्ध, निष्काम निरहंकार चित्त से दिए गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है ही। भले मात्रा में अधिक ही क्यों न हो। शुद्ध चित्त से दिए गए दान का सचमुच अधिक महत्त्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है। पर इसके महत्त्व की भी अतिरंजना करके इसे ही सब कुछ मान बैठें तो धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना हो जाती है और वे कमजोर रह जाते हैं।

इसी प्रकार उपवास भी धर्म का एक अंग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का पालन सुगमतापूर्वक किया जा सकता

है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक संयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पकवानों में ही रमता रहे तो यह हीन कोटि का उपवास होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी संयमित करें तो वह प्रणीत कोटि का उपवास होगा। हीन कोटि की तो बात ही क्या, प्रणीत कोटि का उपवास करने पर भी यदि उसका अतिरंजित मूल्यांकन करने लगें और उसे ही सब कुछ मान बैठें तो इस गलत मूल्यांकन के कारण एक ऐसे अहंभाव के शिकार हो जायेंगे कि धर्म के उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग या तो अछूते रह जायेंगे या कमजोर रह जायँगे; क्योंकि उन्हें पुष्ट करने की बात हम कभी सोचेंगे ही नहीं। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही। उपवास करने वाला कोई व्यक्ति शील-सदाचार के क्षेत्र में दुर्बल हो तो उपवास करने वाले शीलवान व्यक्ति से वह हीन ही है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसाले वाले राजसी भोजन से सादा सात्त्विक भोजन करने वाला व्यक्ति प्रणीत ही है, उत्तम ही है। परंतु सात्त्विक निरामिष भोजन करने वाला व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो फिर इस मिथ्या अहं के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जायगा। भोजन में मात्रज्ञ और गुणज्ञ होना यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए नितांत आवश्यक है, धर्म का एक अच्छा अंग है। परंतु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊंचे अंग हैं ही, ऐसा नहीं जानेंगे तो उनसे वंचित ही रह जायँगे।

अपना अधिकांश समय आलस में, प्रमाद में, तन्द्रा में गँवा देने वाले व्यक्ति के मुकाबले यथावश्यक कम से कम समय सोकर, अधिक से अधिक समय जागरूक रहने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से अधिक अच्छा है। परंतु सोने की मात्रा जानने वाले अच्छे व्यक्ति को भी धर्म-पथ की आगे की बहुत सी मंजिलें प्राप्त करनी आवश्यक हैं, इसे वह न भूल जाय।

टहलना, दौड़ना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन-प्राणायाम करना, शरीर को स्वस्थ और फुर्तीला बनाए रखने के लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज सुबह नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में इनका अपना महत्त्व है, अपना मूल्य है। परंतु केवल इन्हीं को सम्पूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी-बाहरी सफाई में ही लगे रह कर भीतरी सफाई का काम रोक दें तो अपनी हानि ही करने लगेंगे।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित हो, निगृहीत हो, सबल हो, सुदृढ़ हो, धर्म मार्ग पर अविचल आरूढ़ हो। परंतु इन व्रतों को ही सब कुछ मान बैठें तो यही बंधन बन जाय। कोई माला फेरता है और मन ही मन किसी मंत्र का जाप करता है तो इसलिए कि उस माला के मनके के साथ-साथ उस मंत्र का जाप मन को एकाग्र करने में सहायक हो। परंतु चित्त की एकाग्रता का तो जरा सा भी अभ्यास करे नहीं और मात्र माला फेरने और मंत्र जपने की रूढ़ि को ही धर्म मान बैठे तो भटक ही जाता है।

कोई मंदिर जाता है, वहां अपने उपास्यदेव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उसके मन में श्रद्धा जागती है। श्रद्धा द्वारा मन में सौमनस्यता जागती है। सौमनस्यता चित्त को एकाग्र करने में सहायक होती है। अपने उपास्यदेव की मूर्ति को खुली आंखों से देखता है और फिर आंख बंद करके बार-बार उसका ही ध्यान करता है तो इस अभ्यास द्वारा उसकी आकृति बंद आंखों के सामने भी आने लगती है और इस प्रकार उसके सहारे चित्त को एकाग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। अपने उपास्य देव की आकृति का ध्यान करते-करते उसके गुणों का ध्यान करने लगता है और उन गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सचमुच कल्याणकारी है। परंतु यह सब तो करे नहीं, केवल मंदिर जाने और मूर्ति के सामने यंत्रवत सिर झुकाने को ही सम्पूर्ण धर्म मान ले तो इस गलत मूल्यांकन के कारण रूढ़ियों में ही उलझा रह जाता है।

इसी प्रकार भजन और कीर्तन भी तल्लीनता के लिए है। चित्त को एकाग्र करने के साधन मात्र हैं। परंतु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगें तो हम फिर भुलावे में पड़ जाते हैं। किसी गुरु का, किसी संत का दर्शन, उसको किया गया नमन, उसके प्रति श्रद्धा जगाने के लिए है। उसके गुणों को देखकर मन में प्रेरणा जगाएं और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त है। परंतु इनका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं तो फिर विवेक खो बैठते हैं और अंध-श्रद्धा के कारण बुद्धि जड़ होने लगती है। किसी धर्मग्रंथ का पाठ करते हैं अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिये कि उससे हमें प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म जीवन में उतार सकें। परंतु इसे भुलाकर केवल श्रवण, पठन को ही सब कुछ मान लेते हैं तो फिर गाड़ी मिथ्यादृष्टि के दलदल में फँस जाती है।

कोरा वाणीविलास और बुद्धिविलास धर्म नहीं है। जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणियां हैं। अहिंसा,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद। इन पांच शीलों में से कोई एक का, कोई दो का, कोई तीन का, कोई चार का अथवा कोई पांच का पालन कर पाता है तो एक से दूसरा क्रमशः अधिक धर्मवान है ही। इनमें भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिये कर पा रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश में वह जन्मा है, पला है और रहता है वह उस शील पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितांत प्रतिकूल परिस्थिति में भी उस शील का पालन करता है, मन को वश में रखता है तो यह दूसरा व्यक्ति पहले से श्रेष्ठ है ही।

मन को वश में करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। मन को वश में करना ही समाधि है। परंतु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलंबन का इस्तेमाल करता है, वह आलंबन राग या द्वेष या मोह बढ़ाने वाला है तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलंबनों का उपयोग करता है जो कि राग, द्वेष और मोह को क्षीण करने वाले हैं तो पहले व्यक्ति की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है ही। दूषित चित्त की एकाग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धियां-सिद्धियां हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगों को चकाचौंध कर देने वाला कोई चमत्कारपूर्ण कार्य प्रदर्शित किया जा सकता है। परंतु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह कतई आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति ने सिद्धियां प्राप्त कर लीं, वह धर्मवान हो ही। अनेक दुश्शील व्यक्ति भी चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अतः चमत्कारों के आधार पर धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। करते हैं तो मूल्यांकन गलत ही होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका आवश्यक है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। कभी-कभी हम लगातार ३-३ घंटे तक एक ही आसन पर बैठे रह जाते हैं। परंतु आसन-सिद्धि ही साधना का अंतिम लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार एकाग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बंद आंखों के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रंग, आकृतियां, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानों से कोई अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से कोई अपूर्व गंध सूंघते हैं, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते हैं, शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न-भिन्न अतीन्द्रिय अनुभूतियों को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दिव्य गंध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कह कर इनको अतिरंजित महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते है। इसी प्रकार समाधि का अभ्यास करते हुए कभी-कभी अनायास सांस सूक्ष्म होते-होते रुक

जाती है स्वतः कुंभक होने लगता है। अभ्यास करते-करते विचारों का, वितर्कों का तांता जरा मंद पड़ने लगता है और कभी-कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है। एकाग्रता बढ़ती है तो भीतर ही भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है, आनंद की लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर पुलक-रोमांच से भर जाते हैं। बहुत हल्कापन महसूस होता है परंतु इन भिन्न-भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सब कुछ मानकर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगें तो फिर भटक जाते हैं। ये सारी अनुभूतियां इस लंबे मार्ग पर मील के पत्थरों जैसी हैं। इनमें से किसी भी पत्थर के साथ चिपक जायँ तो वह पत्थर गले का हार बन जाता है। आगे बढ़ना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूतियां इस लंबे यात्रा-पथ पर भिन्न-भिन्न धर्मशालाएं जैसी हैं। इनमें से किसी भी धर्मशाला को अंतिम लक्ष्य मानकर उसमें टिक जाय तो आगे के रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकता; यात्रा बंद हो जाती है। पहले ध्यान से लेकर आठवें ध्यान तक की सारी अनुभूतियां एक से एक अधिक उन्नत हैं। परंतु आठों ध्यानों में पारंगत हो जाने के बावजूद आध्यत्मिक क्षेत्र में संपूर्णता नहीं मानी जाती। आठों समाधि समापत्तियों को सहज अनुभूत करने वाले साधक को भी प्रज्ञावान होना अत्यंत आवश्यक है।

प्रज्ञावान प्रज्ञावान में भी भेद है। कोई प्रज्ञावान ऐसा है जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है यानी पढ़कर, सुनकर प्रज्ञा के बारे में जानकारी प्राप्त की है। दूसरे तरह का प्रज्ञावान ऐसा है जिसने चिंतनमयी प्रज्ञा हासिल की है, यानी जो पढ़ा है, सुना है, उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर युक्तिसंगत जान कर स्वीकार किया है। पहले प्रज्ञावान से दूसरा प्रज्ञावान निश्चितरूप से उत्तम है। परंतु पहले और दूसरे से वह तीसरा प्रज्ञावान अधिक उत्तम है जो कि भावनामयी प्रज्ञा, यानी स्वयं अपनी अनुभूतियों के बल पर बढ़ाई हुई अपनी ही प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जाग्रत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धिरंजन किया है, इसकी स्वयं ही जांच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धि-रंजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियों में मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगा। भावनामयी प्रज्ञा का जितना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर ही हम जो व्यक्ति, जो वस्तु, जो स्थिति, जैसी है उसको वैसे ही, उसके सही स्वरूप में और उसके सही गुण-धर्म-स्वभाव में देखते हैं तो अपने मन का संतुलन बिगड़ने नहीं देते। अंतर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रंथियां स्वतः खुलने लगती

हैं। चित्त के दूषण दूर होते हैं। उसमें निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तो संकीर्णता के स्थान पर उदारता जागती है। दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना जागती है। द्वेष के स्थान पर प्यार जागता है। ईर्ष्या के स्थान पर मोद जागता है। वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन में आ रहे हैं या नहीं, हमारे रोजमर्रा के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं या नहीं, इसी कसौटी से हम धर्म के क्षेत्र में अपनी उन्नति को मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा में स्थित होते जायँगे, वैसे-वैसे स्वाभाव से शील में पुष्ट होते जायँगे, समाधि सुदृढ़ होती जायगी, मन वश में रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज-स्वभाव बन जायगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने अंधे स्वार्थ के लिए औरों की हानि करने की संकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने पास जो सुख-साधन है उनको औरों को बांटकर अपने सुख का भागीदार बनाने की दान-वृत्ति सहजभाव से जीवन का अंग बन जायगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढ़ियां जो कभी धर्म-साधन के रूप में हमें प्राप्त हुई थीं और जिन्हें कि अपनी ही नासमझी के कारण हमने सिद्धि मानकर छाती से चिपका लिया था, वे अब सांप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट के और बिना किसी प्रयास के अपने आप छूटती चली जा यंगी और जो नई त्वचा आयगी वह निष्प्राण नहीं, बल्कि सजीव धर्म से जीवंत होकर आयगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है। परंतु निष्प्राण हो जाय तो भी उसे चिपकाए रखना नासमझी है। छिलकों का अपना महत्त्व है। परंतु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय तो भी मोहवश उन्हें चिपकाए रखना नासमझी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्यांकन होता है। लुभावने तर्कजाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नहीं कर देते और न ही परंपराओं के प्रति भावावेशमयी आसक्तियों के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाए रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है जिसमें न थोथा तर्कजाल टिक सकता है और न ही अंध भावावेश। धर्म के प्रत्येक अंग का सही-सही मूल्यांकन होने लगता है और इस प्रकार धर्म का सर्वांगीण विकास होने लगता है; समुचित विकास होने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास न हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। शरीर का कोई एक ही अंग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाय और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाय तो सारे शरीर के सामने यह विकसित अंग भी रोगी

ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म शरीर का भी कोई एक अंग इतना अधिक विकसित हो जाय कि अन्य सभी अंगों के विकास में रुकावट पैदा कर दे तो संपूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी हो ही जाता है, वह अंग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अतः समग्र धर्मशरीर को स्वस्थ सबल रखने के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अंगों का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अंगों का प्रज्ञा-विवेकपूर्वक समुचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है।

माला तिलक जैसे बाह्याडंबर, नदीस्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकांड, अथवा आत्मवाद अनात्मवाद जैसी बुद्धिरंजनीय दार्शनिक मान्यताएं आदि की तो बात ही क्या, यदि हम किसी एक अच्छे व्रत का पालन करते हुऐ उसकी भी अतिरंजना करने लगें तथा शुद्ध धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना करते हुए उसी में मुक्ति का परामर्श देखने लगें तो यही "शील-व्रत-परामर्श" हमारे लिये भयंकर रोग साबित हो जाय। इससे बचने के लिये और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए हर बात का सही-सही उचित-उचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मंगल-जीवन की यही कल्याण-कुंजी है।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ प्रथम भाद्रपद पूर्णिमा दि. ०१-०९-७४ अंक ३)

उद्‌बोधन : सरल बनें!

मेरे प्यारे साथी साधक साधिकाओ!
आओ, सरल बनें! अति सरल बनें!

सरलता ही चित्त की विशुद्धि है। कुटिलता मलीनता है। मलीनता अनर्थकारिणी है, विशुद्धता स्वार्थ साधिनी है। कुटिलता सर्व हित नाशिनी है सरलता सर्व हितकारिणी है। अतः न केवल अपने हित-सुख साधन के लिए बल्कि सब के हित-सुख साधन के लिए सरलता अपनाएं, कुटिलता त्यागें।

नैसर्गिक स्वच्छ मन स्वभाव से सरल ही होता है। नैसर्गिक सरलता खो बैठते हैं तो मन की स्वच्छता खो बैठते हैं। सरलता खो बैठने के तीन प्रमुख कारण हैं जिनसे कि हमें सावधान रहकर बचना है। कौन से तीन? तण्हा-मान-दिट्ठि। यानी तृष्णा, अहमन्यता और दार्शनिक दृष्टियां। इन तीनों में से किसी एक के प्रति भी जब-जब जितनी-जितनी आसक्ति होती है तब-तब उतनी-उतनी सरलता खो ही बैठते हैं, उतनी-उतनी स्वच्छता गँवा ही देते हैं। उतने-उतने मलीन हो ही जाते हैं, उतने-उतने सुख-शाति-विहीन हो ही जाते हैं, उतने-उतने दुःखी हो ही जाते हैं।

जैसे-जैसे किसी भी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति के प्रति तृष्णा जागती है और आसक्ति बढ़ती है वैसे-वैसे उसे प्राप्त करने के लिए अथवा प्राप्त हुई हो तो अधिकार में रखने के लिए हम हर बुरे से बुरा तरीका अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। चोरी, डकैती, झूठ-फरेब, छल-छद्म, प्रपंच-प्रबंधन, धोखाधड़ी आदि-आदि सब कुछ अपनाते हैं। अपने पागलपन में मन की सारी सरलता खो बैठते हैं। साध्य हासिल करने की आतुरता में साधनों की पवित्रता खो ही बैठते हैं। इतने प्रमत्त हो उठते हैं कि तृष्णा पूर्ति में जो भी बाधक लगता है, उसे दूर करने के लिए, नष्ट करने के लिए असीम क्रोध, रोष, द्वेष, द्रोह, दौर्मनस्य और दुर्भावनाओं का प्रजनन करने लगते हैं। और परिणाम स्वरूप अपनी ही सुख-शांति भंग करते हैं, अपनी ही सरलता नष्ट करते हैं।

इसी प्रकार जब "मैं-मेरे" के प्रति आसक्ति तेज होती है तो उस मिथ्या आरोपित "मैं-मेरे" की मिथ्या सुरक्षा के लिए, मिथ्या हित-सुख के लिए, जिन्हें "मैं-मेरा" नहीं मानते उनकी बड़ी से बड़ी हानि करने पर तुल जाते हैं।

ऐसा करते हुए वस्तुतः अपनी ही अधिक हानि करते हैं। सबसे पहले अपने मन की सरलता की ही हत्या करते हैं, अपनी आंतरिक स्वच्छता ही खो बैठते हैं। अपनी सुख शांति ही गँवा बैठते हैं, औरों को ठगने के उपक्रम में स्वयं ही ठगे जाते हैं।

इसी प्रकार जब हमें अपनी दार्शनिक दृष्टि अथवा सांप्रदायिक मान्यता के प्रति आसक्ति हो जाती है तब भी हम मन की संकीर्णता के शिकार हो जाते हैं और अपनी सहज सरलता खो बैठते हैं। मन जब पानी की तरह सहज-सरल-तरल होता है तब अपने आपको सच्चाई के पात्र के अनुकूल ढाल ही लेता है। और अपनी सरलता भी नहीं गँवाता। रास्ते में अवरोध आता है तो कल-कल करता हुआ उसके बगल से निकल जाता है। कोई अवरोध उसे काटता भी है, दो टुकड़े भी करता है, तो अवरोध के आगे बढ़कर फिर जुड़ जाता है, वैसे का वैसा हो जाता है। परंतु मन जब पत्थर की तरह कठोर हो जाता है तो चट्टानों से टकराकर चिनगारियाँ ही पैदा करता है, चूर-चूर ही होता है। जहां हमारी दृष्टि दार्शनिक विश्वासों के प्रति, अंध मान्यताओं के प्रति, कर्म-कांडों के प्रति, बाह्य आडंबरो के प्रति, आसक्त होकर रूढ़ हो जाती है वहां पथरा ही जाती है। पथराई हुई दृष्टि निर्जीव हो जाती है। पथराई हुई दृष्टि हमें अंधा बनाती है, हमारे कल्याण का रास्ता बंद करती है। सांप्रदायिकता की दासता में जकड़े जाने के कारण हम सत्य को अपने चश्में से ही देखना चाहते हैं। उसे तोड़-मरोड़ कर अपनी मान्यता के अनुकूल बनाना चाहते हैं। उस पर अपना रंग-रोगन लगाना चाहते हैं। उसकी सहज स्वाभाविकता नष्ट करते हैं। सत्य का सहज सौंदर्य नष्ट करते हैं। और इस दुष्प्रयास में अपने मन की सरलता ही नष्ट करते हैं। उसे कुटिलता से भर लेते हैं।

कुटिलता कठोरता है, सरलता मृदुता है। कुटिलता अभिमानता है, सरलता निरभिमानता है। कुटिलता ग्रन्थि-बंधन है, सरलता ग्रंथि-विमोचन है।

ग्रंथि बंधन सचमुच बड़ा दुःखदायी है। सच्चा सुख तो ग्रंथि विमोचन में ही है, विमुक्ति में ही है। जब-जब सरलता खोकर कुटिलता अपनाते हैं, तब-तब अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। भीतर ही भीतर तनाव खिंचाव शुरू हो जाता है। अनजाने में अपने लिए गांठे बांधने लगते हैं, अंतर्मन गांठ-गठीला हो उठता है। उसके साथ-साथ सारा शरीर भी भीतर ही भीतर तनाव-खिंचाव से गांठ-गठीला हो उठता है। मूंज की रस्सी की तरह बल खा-खा कर अकड़ जाता है, अकड़ जाता है तो हम बेचैन ही रहते हैं, अशांत ही रहते हैं, व्याकुल ही रहते हैं। हमारी यह आंतरिक व्याकुलता चिड़चिड़ाहट के रूप में, झुंझलाहट के रूप में बाहर प्रकट होती रहती है और इस प्रकार हम अपनी बेचैनी औरों पर भी बरसाते रहते हैं।

इसके विपरीत मन जब सहज-सरल रहता है तो मृदु-मधुर रहता है, सौम्य-स्वच्छ रहता है, शीतल-शांत रहता है। शरीर भी हल्का-फुल्का रहता है। पुलक-रोमांच से भरा रहता है। परिणामतः हम प्रीति-प्रमोद से, सुख-सौहार्द से भर उठते हैं। हमारी यह आंतरिक प्रीति, यह आंतरिक शांति, मैत्री और करुणा के

रूप में बाहर प्रकट होती है और इस प्रकार हम अपनी सुख-शांति औरों को भी बाटते हैं। अपने आस-पास के सारे वायुमंडल को प्रसन्नता से भरे रखते हैं।

इसीलिए साधको! आत्महित के लिए, परहित के लिए, सर्वहित के लिए, आओ, कुटिलता त्यागें! आओ सरलता अपनाएं!

कुटिलता में महा अमंगल समाया हुआ है। सरलता में महा मंगल समाया हुआ है।

---o---

समता धर्म

समता धर्म है, विषमता अधर्म, समता अनासक्ति है, विषमता आसक्ति, जहाँआसक्ति है वहाँ दुख ही है। जहाँ अनासक्ति है वहीं सच्चा सुख है, सच्ची शांति है।

विपश्यना साधना द्वारा हम देखते हैं कि शरीर पर आधारित इस चित्तधारा में विविध कारणों से समय-समय पर सुखद और दुःखद दोनों ही प्रकार की संवेदनाएं प्रकट होती रहती हैं. सुखद संवेदना हमें प्रिय लगती है और उसके प्रति राग पैदा होता है। परिणामतः उसे कायम रखने के लिए हम आतुर हो उठते हैं। वह छूट न जाय, इस निमित्त आशंकित-आतंकित हो उठते हैं, असुरक्षितता की बेचैनी महसूस करने लगते हैं। परंतु प्रकृति के परिवर्तनशील नियमों के कारण यह सुखद संवेदना नष्ट होती ही है। और जब दुःखद संवेदना प्रकट होती है तो उसके प्रति कितना द्वेष जागता है! उसे दूर करने के लिए कितने आतुर हो उठते हैं! क्या यह कभी दूर नहीं होगी? इस भय-आशंका से आतंकित हो उठते हैं। फिर असुरक्षा की बेचैनी में जकड़ जाते हैं, दोनों ही अवस्थाओं में अशांत, बेचैन रहते हैं। राग और द्वेष से आसक्ति जागती ही है, असुरक्षा की भावना जागती ही है, मन अपना संतुलन खो ही बैठता है, यही विषमता है। सुखद-दुःखद स्थितियों के रहते भी मन राग-द्वेष से विहीन रहता हो, तो ही अनासक्त रहता है, सदा सुरक्षित महसूस करता है, अपना संतुलन नहीं खोता, शांत रहता है।

सुखद-दुःखद स्थिति के प्रति पूर्ण संवेदनशील और जागरूक रहकर भी अविचलित रहना ही समता है। समता चट्टानी जड़ता नहीं है, मरघट की शांति नहीं है। जहां चित्त को उत्तेजित करने वाले आलंवन उद्दीपन ही न हो, वहां समता सही समता है। यह कैसे कहा जा सकता है? जहां उत्तेजित करने वाले आलंबन उद्दीपन हों तो भी, उत्तेजित हो सकने वाला चित्त ही सुषुप्त हो, वहां भी समता

सही समता है यह कैसे कहा जा सकता है? समता नकारात्मक नहीं है; मूढ़ता, मूर्छा, कुंठा नहीं है. कोई हमें भाजी की तरह काट जाय और हमें पता ही न चले, ऐसी अचेतन अवस्था नहीं है. यह कोई एनिस्थीजिया की सूंघनी नहीं है, मोर्फिया का इन्जेक्शन नहीं है; पूर्ण चेतन रहें, फिर भी सम रहें तो ही सम हैं। नहीं तो गहरी नींद में सोने वाला अथवा मूर्छित अथवा मूढ़ व्यक्ति समता का दंभ भर सकता है।

सुखद से प्रफुल्लित हो उठना और दुःखद से मुरझा जाना ही तो वैषम्य है। दोनों के रहते संतुलित-समरस रहना ही समता है। परंतु समता हमें आसक्त और कर्मशून्य नही बनाती। सच्ची समता आती है तो प्रवृत्ति जागती हैं, ऐसी प्रवृत्ति परम पुरुषार्थ का रूप धारण करती है. परम पुरुषार्थ में अपने-पराए का भेद नहीं रहता, ऐसी पुरुषार्थ-प्रदायिनी समता जितनी-जितनी सबल होती है जीवन में उतना-उतना मंगल उतरता है। आत्म मंगल भी, जन मंगल भी, समता जितनी दुर्बल होगी उतना ही अपना भी अनर्थ होगा, औरों का भी।

समता-धर्म जीवन-जगत से दूर भागना नहीं है, पलायन नहीं है, जीवन-विमुख होना नहीं है। समता धर्म जीवन-अभिमुख होकर जीना है। जीवन से दूर भागकर आखिर कहां जायेंगे? विषयों से दूर भागकर कहां जायेंगे? सारा संसार विषयों से भरा पड़ा है विषय हमारा क्या बिगाड़ते हैं? न वे हमारे शत्रु हैं, न मित्र. न वे भले हैं, न बुरे. भला-बुरा है उनके प्रति हमारा अपना दृष्टिकोण। अनासक्त दृष्टिकोण अथवा आसक्त दृष्टिकोण, समदृष्टिकोण अथवा विषम दृष्टिकोण, यदि हम विषय से दूर भागने के बजाय, विषयों से उत्पन्न होने वाले विकारों को समता से, अनासक्ति से देखना सीख जायं तो उन विषयों के रहते हुए भी विकारों को निस्तेज कर ही लेंगे। समता से, अनासक्ति से देखना ही विशेषरूप से देखना है, प्रज्ञापूर्वक देखना है, सम्यक दृष्टि से देखना है, यही विदर्शना है, यही विपश्यना है। समतामयी विपश्यना की दृष्टि प्राप्त होती है तो "मैं-मेरे" का और "राग-द्वेष" का कोहरा दूर होता है। जो जैसा है वैसा ही दीखता है। और तब हम अंध प्रतिक्रिया करना छोड़ देते हैं, समता की सुदृढ़ भूमि पर स्थिर होकर हम जो कुछ करते हैं वह शुद्ध क्रिया ही होती है, प्रतिक्रिया नहीं। इसलिए कल्याणकारी ही होती है, अमंगलकारी नहीं।

भीतर चित्तधारा में उठने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाओं के प्रति पूर्ण समता का भाव आने लगता है तो बाह्य जीवन में सहज समता प्रकट होने ही लगती है। बाह्य जीवन-जगत की सारी विषमताएं आंतरिक समता को भंग नहीं कर पातीं, जीवन में आते रहने वाले उतार-चढ़ाव, ज्वार-भाटा, बसंत-पतझड़, धूप-छांह,

वर्षा-आतप, हार-जीत, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-हानि आदि द्वंद्वों से मन विचलित नहीं हो पाता, सारी स्थितियों में समरस बना रहता है।

आंतरिक समता की पुष्टि से ही योग-क्षेम पुष्ट होता है। इसी से हजार प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद अपनी सुरक्षा का मिथ्या भय दूर होता है। जीवन में वैशारद्य आता है, निर्भयता आती है। अगले क्षण क्या हो जायगा इसके लिए चिंतित व्यथित, आकुल-व्याकुल नहीं होता? मेरे पुत्र-कलत्र, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, सत्ता-शक्ति, स्वाथ्य-आयु, सुरक्षित रहेंगे या नहीं? इन निरर्थक चिंताओ से विमुक्ति प्राप्त होती है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृति को अपरिवर्तनीय बनाए रखने का प्रमत्त प्रयास, जीवन जगत की सतत प्रवहमान धारा को रोके रखने का उन्मत्त आग्रह, पानी के बुदबुदों को मुट्ठी में भींचकर 'मेरा' बनाए रखने का निपट-निरर्थक प्रयत्न, सहज ही छूट जाता है। जीवन से कुटिलता-विषमता, खिंचाव-तनाव, स्वतः दूर होने लगते हैं। परिस्थितियों की बदलती हुई लहरों पर सहजभाव से तैरना आ जाता है। नितांत कर्मशील रहते हुए भी परिणामों के प्रति उन्मुक्त निश्चितता आती है और साथ-साथ व्यवहार कौशल्य में प्रौढ़ता आती है, यही समता धर्म का मंगल परिणाम है।

समता आती है तो मन, वाणी और शरीर के कर्मों में शुद्धता आती है। उनमें सामंजस्य आता है, परिणामतः जीवन में स्वस्थता आती है। वात-पित्त-कफ में विषमता आ जाय तो शरीर रोगी हो जाय। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीर के कर्मों में विषमता आ जाय तो जीवन रोगी हो जाय। मन में कुछ हो, बोले कुछ और, करे कुछ और, तो अस्वस्थ ही हो जायेंगे। ताल-स्वर-लय की समता में जैसे तन्मयता आती है, वैसे ही मन-वाणी-शरीर के कर्मों की समता में भी तन्मयता आती है, परम सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से परे है श्रेष्ठ है।

समता ही स्वस्थता है, मन की समता नष्ट होती है तो ही नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं; मानसिक भी और परिणामतः शारीरिक भी। समतापूर्ण जीवन जीने वाला कलावंत व्यक्ति ही स्वस्थ जीवन जीता है। समतामय जीवन जीने वाले का अहंभाव आत्मभाव नष्ट होता है, वह अनात्म का मंगल जीवन जीता है। 'मैं' और 'तू' का विषमताभरा एकांतीय-एकपक्षीय दृष्टिकोण टूटता है। समता-समन्वय का अनेकांतीय-अनेकपक्षीय दृष्टिकोण पनपता है। विषमता आसक्ति की ओर झुकाती है, आसक्ति अतियों की ओर झुकाती है और अतियों की ओर झुक जाने के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिदोष उत्पन्न होने लगते हैं। "केवल मेरी मुक्ति हो जाय, बाकी समाज भले जहन्नुम में जाय; यह पुत्र, यह

कलत्र, यह भाई, यह बन्धु सब बंधन है मुझे इनसे क्या लेना-देना ? मैं कैसे अपनी मुक्ति साध लूं? इनके भले-बुरे से मुझे कोई लेन देन नहीं।" ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अतियों के एक अंत में उलझा रहता है। दूसरी ओर केवल "मैं और मेरे" परिवार की सीमित परिधि में आकंठ डूबा हुआ व्यक्ति अतियों के दूसरे अंत में उलझा रहता है। समता-धर्म मध्यम मार्ग का धर्म है, समता-धर्म आत्म-मंगल और पर-मंगल के समन्वय सामंजस्य का धर्म है। व्यक्ति जंगल के पेड़-पौधों की तरह स्थावर नहीं है, वह जंगम है.,चलता-फिरता है और अन्य अनेक लोगों से उसका संपर्क, संबंध बना रहता है। आत्म शोधन के लिए कुछ काल एकांतवास करना और अंर्तमुंखी होना आवश्यक व कल्याणकारी है। परंतु इस प्रकार शोधे हुए मन का बाह्य जगत में सम्यक प्रयोग हो तो ही धर्म पुष्ट होता है।

"मैं" के संकुचित बिंदु से चिपका रहने के कारण ही दृष्टि धूमिल हो जाती है, कर्म सिद्धांत की वैज्ञानिकता स्पष्ट समझ में नहीं आती। आसक्तिजन्य अतियों की ओर झुक जाता है और यह मानने लगता है कि हर व्यक्ति केवल अपने पूर्व कर्मों से ही प्रभावित होता है। औरों के कर्मों से उसे कतई लेना-देना नहीं, जबकि सच्चाई यह है कि हर व्यक्ति अपने कर्मों से तो प्रभावित होता ही है। परंतु सारे समाज के कर्मों से भी कम प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्मों का फलित पुतला है ही, परंतु समग्र मानव समाज की अब तक की प्रगति या प्रतिगति की विरासत भी लिए ही हुए है। हमारे कर्म हमें तो प्रभावित करते हीं है, परंतु कमोवेश औरों को भी प्रभावित करते ही रहते हैं। हम अपने कर्मों की विरासत अपनी भवधारा को तो दे ही रहे हैं, परंतु साथ-साथ आने वाली पीढ़ियो को भी कुछ न कुछ दे ही रहे हैं, न व्यष्टि समष्टि से अछूता रह सकता है और न समष्टि व्यष्टि से। न व्यक्ति समाज से अछूता रह सकता है और न समाज व्यक्ति से दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और समुदाय के संबंधों में समता, सामंजस्य की स्थापना ही शुद्ध धर्म का मंगल परिणाम है। समता का शुद्ध धर्म जितना-जितना विकसित होता है व्यक्ति उतना-उतना "मैं" के संकुचित बिंदु से आगे बढ़ता है। यह "मैं" का बिंदु ही है जो कि अपने इर्द-गिर्द 'मेरे' के वृत्त पैदा करता रहता है। शनैः शनैः इस 'मेरे' के वृत्त की संकीर्णता भी दूर होती है, 'मेरे' का वृत्त विकसित होते-होते, साम्य की पूर्णता प्राप्त होने पर असीम हो जाता है।

जब तक 'मैं' की संकीर्णता में आबद्ध रहता है तब तक इस 'मैं' के लिए किसी की भी हानि करने में नहीं सकुचाता। दायरा जरा सा बढ़ता है तो जिन्हें 'मेरा' कहता है, उनकी हानि करने से रुकता है. 'मैं' के दायरे से निकलता है तो 'मेरे' के संकुचित दायरे तक सीमित हो जाता है; 'मेरी' पत्नी, 'मेरा' पुत्र के दायरे तक. उससे और आगे बढ़ता है तो मेरे कुल, मेरे गोत्र, मेरे वर्ण, मेरी जाति, मेरे

संप्रदाय, मेरे प्रदेश, मेरे राष्ट्र की परिधि में अटक कर रह जाता है। समता धर्म में परिपुष्ट होता है तो ये परिधियां भी टूटती हैं। मानव मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र के हित-सुख में अपना हित-सुख देखता है किसी भी प्राणी के हित-सुख का हनन करके अपने हित-सुख की कुचेष्टा तो दूर, ऐसा चिंतन तक नहीं कर सकता।

जहां दायरे हैं वहां विषमता ही है. दायरा जितना संकुचित है विषमता उतनी ही तीव्र है। साम्य का उतना ही अधिक अभाव है। साम्य के अभाव के कारण ही जो 'मै' हूं, जो 'मेरा' है, उसके हित-सुख के लिए, उसकी सुरक्षा के लिए जो 'मै' नहीं हूं, जो 'मेरा' नहीं है उसकी हानि की जाती है। जब तक ऐसा है तब तक जीवन पाप से ही भरा रहता है, जो 'मै-मेरा' है उनके लिए 'एक कण' भी जुटा सके तो जो 'मैं-मेरा' नहीं है उनका 'एक मन' भी मिट्टी में मिलाते हुए नहीं हिचकता। 'मैं-मेरे' के लिए किसी दुर्बल के मुँह का कौर छीनते हुए नहीं झिझकता। 'मैं-मेरे' के अंधेपन में जघन्य से जघन्य पाप कर्म भी अनुचित्त नहीं लगता।

विषमता 'मैं मेरे' की, 'अहं-मम' भाव की जननी है। अहं-मम भाव विषमता का पोषक है, अहं-मम भाव के कारण ही हम तीव्र लोभ के वशीभूत होकर संग्रह-परिग्रह करते हैं और अनेकों को अभावग्रस्त कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं। तीव्र दंभ के वशीभूत होकर ऊंचे कुल, ऊंचे वर्ण, ऊंची जाति, का नशा सिर पर चढ़ाते हैं और समाज में ऊंच-नीच का भेद-भाव पैदा कर सामाजिक समता की हत्या करते हैं. सत्ता के मद में मदहोश होकर निर्बल और भोले लोगों का दमन और शोषण करते हैं और सामाजिक समता की हत्या करते हैं. इस प्रकार आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने अहं का पोषण करते हुए, वैषम्य पैदा करते हैं। औरों के समान अधिकारों को कुचलते हुए निर्मम पैशाचिक व्यवहार करते हैं और अपने तथा अन्य सबों के दुःख का कारण बनते रहते हैं। यह सब समता के अभाव के कारण ही होता है। अपने-पराए का भेद मिटाकर साम्यभाव आए तो ऐसी नृशंसता कर ही न सकें। यदि मैं मिलावट की औषधि बेचने वाला लोभी व्यापारी हूं तो अपने बीमार बेटे को वैसी औषधि कभी नहीं देता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी मिलावट की औषधि नहीं दूंगा। यदि मैं रिश्वतखोर शासक हूं या शासनाधिकारी हूं तो अपने बेटे से रिश्वत कभी नहीं लेता। अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी से भी रिश्वत नही लूंगा। यदि उच्च वर्ण के मिथ्यादंभ का शिकार हूं तो अपने पुत्र को अछूत कहकर कभी नही दुतकारता अपने और पराए का भेद दूर हो तो किसी को भी अछूत कहकर नही दुतकारूंगा। अपने और पराए का भेद दूर होना ही वैषम्य का दूर होना है. सर्वमंगलकारी साम्य भाव का प्रतिष्ठापित होना है।

जहां शुद्ध साम्य भाव प्रतिष्ठापित होता है, वहां 'स्व' और 'पर' की सीमा टूटती ही है, परिणामतः शोषण मिटता है, सहकारिता आती है। क्रूरता मिटती है, मृदुता आती है। अन्याय मिटता है, न्याय आता है. संकीर्णता मिटती है, विशालता आती है। अहंभाव-हीनभाव मिटता है, भ्रातृभाव आता है अधर्म मिटता है, धर्म आता है।

एक ओर अपने मिथ्या स्वार्थों की सुरक्षा के लिए भय-भीत और आतंकित होकर किसी दुर्बल व्यक्ति को कोहनी मारकर नीचे गिराने और उसे पांव तले रौंदने की क्रूरता और दूसरी ओर योग-क्षेम से परिपूर्ण होकर निर्भय रहते हुए सब के हित-सुख में ही अपना हित-सुख देखने की हृदय विशालता इन दोनों के बीच की सारी स्थितियां समता धर्म के विकास की ही सीढ़ियां हैं।

समता पुष्ट होती है तो सामंजस्य आता है, समन्वय आता है, स्नेह-सौहार्द आता है, सहिष्णुता आती है। सहयोग, सद्भाव, सहकारिता सहज भाव से ही आ जाते हैं, इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ये सब नहीं आ रहे हैं तो अवश्य कुछ कमी है। अभी जीवन में सही विपश्यना, सही समता नहीं आयी है। समता की साधना के नाम पर कोई छलना आयी होगी, कोई माया आयी होगी, कोई धोखा आया होगा। दार्शनिक बुद्धिविलास का एक और चमकीला लेप आया होगा। अवश्य ही अंतर्मन अभी विषमता से भरा हुआ है। अपने आपको इसी कसौटी से कस कर जांचते रहना चाहिए।

सचमुच समता पुष्ट होगी तो अपनी हानि करके भी औरों का हितसाधन ही होगा और यह सहजभाव से होगा। दीये की बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में लोगों को प्रकाश ही देती है। धूप बत्ती स्वयं जलती है पर बदले में सब को सुवास ही देती है। चंदन की लकड़ी स्वयं कटती है पर बदले में सबके लिए सुरभि ही बिखेरती है। फलवाला वृक्ष स्वयं पत्थर की मार सहता है, पर बदले में सब को फल ही देता है। और यह सब कुछ सहजभाव से होता है समता सहज हो जाय तो सब के मंगल का स्रोत खुल जाय।

अतः साधको आओ! ऐसे सर्वमंगलमय समता-धर्म में स्थापित होने के लिए अभ्यास करें! अभ्यास करें! अभ्यास करें!

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ द्वितीय भाद्रपद पूर्णिमा दि. ०१-१०-७४ अंक ४ व ५)

विपश्यनाः विश्वजनीन

दयानंद अडूकिया

चित्त को निर्मल करने वाली विपश्यना साधना विधि ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत की एक अनुपम उपलब्धि रही है। भगवान गौतमबुद्ध इस कल्याणकारी साधना विधि के समर्थ शास्ता थे, मार्ग दर्शक थे। कुछ एक सदियों के बाद यह विधि किन्हीं अज्ञात कारणों से इस देश से सर्वथा लुप्त हो गई अथवा भ्रष्ट हो गई। परंतु ब्रह्मदेश पहुँची तो वहां के सेवाभावी कर्तव्यनिष्ठ आचार्यों ने पीढ़ी दर पीढ़ी इसे अपने शुद्ध रूप में जीवित रखा। पूज्य सयाजी ऊ बा खिन इसी आचार्य परंपरा के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे और वर्तमान ब्रह्मदेश के गौरवशाली सपूत थे। गृहस्थ होते हुए भी वे एक उच्च कोटि के संत पुरुष थे। गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाते हुए वे अपने जीवन के अंतिम दिनों तक विपश्यना साधना द्वारा लोकसेवा का कार्य करते रहे। वे ६७ वर्ष की पकी हुई उम्र में सरकारी नौकरी से पूर्ण अवकाश पा सके और तब उनके मन में तीव्र धर्म संवेग जागा कि यह कल्याणकारी विधि किसी प्रकार भारत पहुंचे ताकि बमा (म्यंमा) पर भारत का जो पुरातन धर्म-ऋण है, उसकी अदायगी हो सके। केवल भारत ही नहीं, यह सारे विश्व में भी फैले जिससे कि सर्वत्र पीड़ित मानवता का उपकार हो सके।

किन्ही कारणों से सयाजी ऊ बा खिन स्वयं बर्मा (म्यंमा) से बाहर न जा सके। परंतु जून १९६९ में उनके शिष्य सत्यनारायण गोयन्का अपनी रुग्ण माता से मिलने और उनकी सेवा करने के लिए भारत आए। सयाजी ऊ बा खिन ने सत्यानारायण गोयन्का को १४ वर्षों के मैत्रीमय प्रशिक्षण द्वारा न केवल विपश्यना का एक सफल साधक बनाया बल्कि औरों को सिखा सकने का भी अभ्यास करवाया। जब गोयन्काजी भारत आए तो पुरातन आचार्य परंपरा के अनुकूल विधिवत उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा चुका था। भारत आने के पूर्व पूज्य ऊ बा खिन जी के सान्निध्य में और उनकी देख-रेख में बर्मा में ही उन्होंने विपश्यना प्रशिक्षण का कार्य शुरू कर दिया था।

भारत आने पर सयाजी के शुभ आशीर्वाद और मंगल मैत्री के बल पर गोयन्काजी ने ३ जुलाई १९६९ को मुंबई की पंचायती वाड़ी धर्मशाला में सदियों बाद भारत में 'विपश्यना' का पहला ऐतिहासिक शिविर संचालित किया, जो कि मुख्यतः उनके माता-पिता की धर्म-सेवा के लिए लगाया गया था। परंतु अन्य लोग भी लाभान्वित हुए, जिनमें मेरा पुत्र विजय भी था। इसके बाद तो शिविरार्थियों के

आग्रह पर एक के बाद एक शिविर लगने लगे, जिनसे कि बड़ी संख्या में लोग लाभ लेने लगे।

१९ जनवरी, १९७१ को जबकि श्री गोयन्काजी बोधगया में २७ वां शिविर संचालित कर रहे थे, सयाजी ऊ बा खिन की शरीर च्युति हुई। उसी समय अपने पिता तुल्य आचार्य सयाजी के असीम ऋणों का स्मरण करते हुए श्री गोयन्काजी ने आचार्य कुल की गौरवशाली परंपरा के अनुकूल अपना शेष जीवन, धर्म-सेवा में लगाने का शिवसंकल्प किया। तब से अब तक भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में अनथक धर्मचारिका करते हुए विपश्यना शिविर लगा ही रहे हैं। अभी-अभी इंदौर में उनके द्वारा १०० वां शिविर संचालित हो रहा है और आगामी मई १९७५ तक के कार्यक्रम निर्धारित किए जा चुके हैं। विपश्यना विधि आशुफलदायिनी है। इसके प्रति लोगों का आकर्षण होना स्वाभाविक ही है।

मेरे पुत्र विजय द्वारा प्रेरित होकर मैं स्वयं भी एक शिविर में शामिल हुआ। सबकी तरह मुझे इस कल्याणकारी विधि ने अपनी ओर खींच लिया। विपश्यना का सबसे बड़ा आकर्षण मुझे यही लगा कि यह हमें जीने की कला सिखाती है क्योंकि स्थितियों को सही परिप्रेक्ष्य में यथाभूत देखना सिखाती है। स्थितियों को यथार्थतः देखने की बात बौद्धिक स्तर पर सिद्धांतरूप में तो हम सभी स्वीकारते हैं, परंतु वस्तुतः कैसे देखें, यह विपश्यना से सीख पाते हैं।

मोह का पर्दा हमें सच्चाई को यथाभूत देखने नहीं देता। जो कुछ देखते हैं, उसे राग या द्वेष के चश्मों से ही देखते हैं। 'मैं' और 'मेरे' चश्में से ही देखते हैं। हमारे जीवन के सभी खिंचाव-तनावों का यही एक मात्र कारण है। जैसे ही हम अनासक्त होकर यथाभूत देखने लगते हैं, सारे तनाव खिंचाव स्वतः दूर हो जाते हैं। हम ही आसक्तिवश तनाव पैदा करते हैं। हम ही आसक्ति तोड़कर तनाव पैदा करना रोक सकते हैं। राग, द्वेष और मोहजन्य आसक्तियों द्वारा तनाव पैदा करना मानवमात्र का विश्वजनीन रोग है। इस रोग से छूटने की यह विधि भी विश्वजनीन चिकित्सा ही है। और यही कारण है कि इसे किसी भी देश, काल, जाति, वर्ग, संप्रदाय का व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के अपना सकता है। इसे सीखने के लिए किसी संप्रदाय में दीक्षित होना कतई आवश्यक नहीं है। यदि कोई दीक्षित होता है तो किसी संप्रदाय में नहीं, बल्कि अस्वस्थ-मलीन चित्त से स्वच्छ-विमल चित्त में दीक्षित होता है। घृणा, द्वेष, वैमनस्य और भय से मैत्री, करुणा, मुदिता और योग-क्षेममयी समता में दीक्षित होता है। दुःख से दुःखनिरोध की अवस्था में दीक्षित होता है। विपश्यना का सारा अभ्यास, हर किसी अनार्य यानी दूषितचित्त व्यक्ति को आर्य यानी निर्मलचित्त बनाने वाले अष्टांगिक मार्ग

का ही अभ्यास है, जो कि शील, समाधि और प्रज्ञा के तीन विभागों में विभक्त है। तीनों ही संकुचित सांप्रदायिकता से दूर हैं। तीनों ही विश्वजनीन हैं। शील-सदाचार तो विश्वजनीन है ही, समाधि के अभ्यास को भी सांप्रदायिकता से दूर रखा गया है। चित्त को एकाग्र करने के लिए कोई सांप्रदायिक आलंबन नहीं है। किसी भी संप्रदाय की कोई देवी, देवता का या संस्थापक का न नाम है, न मंत्र, न पाठ, और न पूजा। साधक अपने ही स्वाभाविक शुद्ध सांस के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास करते-करते अपने शरीर और मन की स्थूल से सूक्ष्मतम तक की सभी अवस्थाओं का निरीक्षण कर सकने की क्षमता प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रज्ञा में स्थित होता हुआ चित्त-विशुद्धि और चित्त-विमुक्ति की ओर आगे बढ़ता है। शरीर और मन के यथाभूत प्रपंच का निरीक्षण करते-करते उनके अनित्य, दुःख और अनात्म यानी आत्म-आत्मीयता विहीन, निस्सार स्वभाव की यथार्थ अनुभूति करता है। यही प्रज्ञा है। इसी से अहंभाव नष्ट होता है, आसक्तियां क्षीण होती हैं; दुख-विमुक्ति सहज उपलब्ध होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारी विधि इतनी सांप्रदायिकता-विहीन है कि इसे अपनाने में किसी भी व्यक्ति को कोई कठिनाई होती ही नहीं।

सचमुच विपश्यना विश्वजनीन है। सब के लिए समान रूप से कल्याणकारिणी है। इसीलिए २५०० नर्ष पूर्व भारत से सारे विश्व में फैली और इसीलिए अब भी विश्व भर के लोगों को आकर्षित कर रही है। कुल पांच वर्ष के अल्पकाल में, अब तक पृथ्वी के छहों महाद्वीपों के लगभग ६० देशों के लोग श्री गोयन्काजी द्वारा संचालित शिविरों में भाग ले चुके हैं। जिन देशों के लोग शामिल हुए हैं वे हैं– भारत, नेपाल, सिक्किम, श्रीलंका, बांग्लादेश, बर्मा, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैंड, वियतनाम, मलेशिया, सिंगापुर, इण्डोनेशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फीलिपाइना, कोरिया, जापान, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, मैक्सिको , ट्रिनीडाड, पोर्टरीको, ग्यूटेमाला, क्यूबा, चिली, जमैका, अर्जेंटाइना, बोलीविया, पेरु, कनाडा, आइसलैंड, आयरलैंड, इंग्लैंड, स्काटलैंड, फ्रांस, पुर्तगाल, स्पेन, बैल्जियम, हालैंड, जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन, नॉरवे, फिनलैंड, लेटिविया, पोलैंड, जैकस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, स्विटजरलैंड आस्ट्रिया, इटली, ग्रीस, टर्की, संयुक्त अरब राष्ट्र, ट्यूनासिया, अल्जीरिया, मोरोक्को, साउथ अफ्रीका, लेबनान, इजराइल, बहरीन, ईराक, ईरान, तथा अफगानिस्तान आदि।

जिस प्रकार विभिन्न देशों के लोग, वैसे ही विभिन्न पेशे के व्यापारी भी शामिल हुए हैं और हो रहे हैं। जैसे कि व्यापारी, मजदूर, किसान, अध्यापक, क्लर्क, व्यवसाय-व्यवस्थापक, डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, तकनीशियन, शोध-विद्यार्थी, भवन-निर्माता, प्राध्यापक, मनोविज्ञान वेत्ता, मनोविज्ञान-चिकित्सक, समाजसेवी,

राजनेता, प्रशासनिक और सैनिक सरकारी अफसर, लेखक, कवि, कलाकार, चित्रकार, संगीतकार, फिल्म व रंगमंच के अभिनेता, निर्माता, निर्देशक आदि, आदि १० से लेकर ९० वर्ष तक की सभी उम्र के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हुए हैं। अब तक जो १०० शिविर हुए हैं उनमें कुल ८२३४ लोग शामिल हुए हैं, जिनमें से ४७६२ नए हैं, बाकी पुराने हैं। इन १०० शिविरों के साधकों की सूची में से गुजरें तो विपश्यना के मंच पर विभिन्नता की रंगीनी लिए विश्वमानव के नयनाभिराम दर्शन होते हैं। अपनी-अपनी मनोव्यथाओं को दूर करने के लिए गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित, काले-गोरे सभी वर्ग के लोग समता की धरती पर खड़े नजर आते हैं। विश्व के सभी नारी-नर नाना प्रकार की मानसिक दुश्चिंताओं और विकार-ग्रंथियों के तनाव-खिंचाव से पीड़ित रहते हैं। विपश्यना सब के लिए समान रूप से राम-बाण औषधि का काम करती है। विश्वजनीन रोगों की यह विश्वजनीन चिकित्सा है, इसीलिए इतने कम समय में विश्व के इतने देशों के और इतने पेशों के लोग इसके प्रति आकर्षित हुए हैं।

इनमें से कुछ ऐसे हैं जो महज इन शिविरों में भाग लेने के लिए भारत आए और अनेक ऐसे हैं जो पर्यटन के लिए भारत आए और संयोगवश इन शिविरों का भी लाभ उठा सके। इन्हीं अंतर्राष्ट्रीय साधकों द्वारा विपश्यना की सुरभि विश्व के कोने-कोने में पहुँची है। इन शिविरों के लिए देश में या विदेशों में कहीं कोई प्रोपेगेण्डा नही किया जाता। फिर भी साधकों और शिविरों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। इसका एक मात्र कारण यही है कि विधि युक्तिसंगत है, वैज्ञानिक है, अनुभवगम्य है। अंधभक्ति और अंधविश्वासों से विहीन है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से दूर है। जादुई चमत्कारों और 'मैं तार दूंगा' के 'गुरुडम' से परे है। बाल की खाल उतारने वाले दार्शनिक विवादों से उनमुक्त है। अंधमान्यताओं के बौद्धिक लेपों से और पूजा-पाठ आदि की निष्प्राण रुढ़ियों से अछूती है। शुष्क तर्कों अथवा भक्ति भावावेश की जकड़ से उन्मुक्त है। सहज है, सरल है, बुद्धिगम्य है। इसलिए सभी तबके के बुद्धिशाली व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती है। इस विधि में साधक की सफलता अपने ही श्रम पर आधारित है। किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म की कृपादृष्टि पर नहीं। यहां तक कि विधि के व्याख्याता भगवान बुद्ध अथवा भगवान महावीर की कृपा पर भी नहीं। सारा मार्ग स्वावलंबन का मार्ग है। गुरु भी केवल मात्र मार्ग-निर्देशक है। कोई मुक्तिदाता नहीं, कोई त्राता नहीं। हर साधक अपने पुरुषार्थ का स्वयं धनी है। जागरूकता का अभ्यास करते हुए अपने भीतर आध्यात्मिक शांति और सौमनस्यता हासिल करता है। औरों के प्रति शांति और सौमनस्यता हासिल करता है। औरों के प्रति शांति और सौमनस्यता पैदा करता है। राग-द्वेष के विकारों से मुक्त होकर

पारस्परिक स्नेह-संबंधो से परिपूर्ण व्यवहार-कौशल्य ही विपश्यना साधना की सफलता का प्रथम सोपान है। और यह सभी के लिए स्पृहणीय है। इसीलिए बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई, यहूदी, आदि-आदि सभी धर्म-समुदायों के लोगों को इस विधि ने अपनी ओर खींचा है। जिस किसी ने इसे चखा है, वही इसका प्रशंसक हो गया है। विभिन्न संप्रदायों के सामान्य लोग ही नहीं, प्रत्युत नेतागण भी इस ओर खिंचे हैं और इसे मुक्त कंठ से सराहा है।

भारतीय शिविरार्थियों में हिंदुओं की संख्या सर्वाधिक रही है। इन्होंने ही सर्वाधिक शिविरों का आयोजन भी किया है।

दूसरी संख्या बौद्धों की है। जन साधारण के अतिरिक्त भारत और विदेशों के अनेक गण्यमान्य भिक्षुओं ने इन शिविरों में भाग लिया है और इससे लाभान्वित हुए है। नव नालंदा महाविहार जैसी पालि शोध संस्था ने अपने यहां शिविर लगाया और संस्था के महानिदेशक डा. नथमलजी टांटिया सहित अन्य प्राचार्यों और शोध विद्यार्थियों ने भी भाग लिया और विधि की उपादेयता की उन्मुक्त प्रशंसा की।

डलहौजी, मुंबई, बोधगया और मद्रास के शिविरों में फादर लोरेंस हांस, मदर मेरी, मदर डेकलीन, जैसे कुछ एक प्रमुख ईसाई पादरी और साध्वियां शामिल हुईं। परिणामस्वरूप भारत के रोमन कैथोलिक समुदाय के प्रमुख पादरियों और साध्वियों के लिए ही एक शिविर (नं. ८७) खण्डाला के सेंट मेरी गिरजाघर में 'फादर एन्थोनी डि मेलो' के आमंत्रण पर लगाया गया। इसमें भारत के कोने-कोने से लगभग ७५ पादरी और साध्वियां सम्मिलित होकर लाभान्वित हुए। परिणामतः अब विपश्यना शिविरों में ईसाई साधकों का, विशेषकर पादरी और साध्वियों की संख्या बढ़ रही है और उनकी ओर से शिविरों की मांगें आ रही हैं।

इसी प्रकार अहमदाबाद, मुंबई, दिल्ली और मोरवी के शिविरों में चंद जैन मुनियों के शामिल होने के कारण विपश्यना ने जैन समाज को भी अपनी ओर आकर्षित करना आरंभ किया। कच्छ के भद्रेसर मंदिर में जो शिविर लगा उसमें बड़ी संख्या में स्थानकवासी और मंदिर मार्गी जैन मुनि और साध्वियां शामिल हुई। जिनमें प्रमुखरूप से मुनिश्री डूंगरसी महाराज, श्री अमरेन्द्रमुनिजी, मुनिश्री छोटालालजी ने भाग लिया।

जैनियों के प्रगतिशील और गुणग्राही आचार्य श्री तुलसीजी का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने दिल्ली में एक शिविर (नं. ८८) आयोजित करवाया, जिनमें मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री किसनलालजी, मुनिश्री चंदजी, मुनिश्री, ताराचंदजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी आदि तथा साध्वीश्री कनकश्रीजी,

साध्वीश्री यशोधराजी आदि ने भाग लिया। प्रतिक्षण चित्त को अप्रमत्त रखकर वीतरागता की ओर ले जाने वाली यह ग्रन्थि-विमोचनी विपश्यना विधि भगवान महावीर की विचारधारा से इतना अधिक मेल खाती है कि इसे भगवान महावीर की भी विलुप्त साधना-विधि कहना गलत नहीं होगा। यही कारण है कि तेरापंथ के विद्वान मुनियों और विदुषी साध्वियों ने इसे न केवल मुक्त कंठ से सराहा ही, बल्कि सहर्ष स्वीकार भी किया है। परिणाम स्वरूप श्री गोयन्काजी ने दिल्ली में एक और शिविर (संख्या ९७) इतने कम समय की अवधि में इनके लिये ही लगाया और अब मार्च महीने में इनके लिए इनके प्रमुख केन्द्र, जैन विश्वभारती, लाडनूं में दो और शिविरों के लिए वचनवद्ध हो चुके हैं।

अन्य जैन नेताओं का ध्यान भी इस ओर खींचा गया। भगवान महावीर की २५०० वीं निर्वाण महोत्सव समिति ने इसकी उपादेयता आंकी और इस महोत्सव वर्ष में लगने वाले शिविरों में सहयोग देने का निर्णय किया। हैदराबाद का शिविर (नं.९१) इस समीति द्वारा ही आयोजित किया गया था और उसमें अधिकांश शिविरार्थी जैन गृहस्थ ही थे। अन्य शिविरों में भी जैन साधकों की संख्या बढ़ रही है।

हिंदू, बौद्ध, ईसाई, और जैनियों के बाद शिविरार्थियों की क्रमशः क्रमिक संख्या यहूदी, पारसी, मुसलमान और सिक्खों की है।

यह कतई आवश्यक नहीं कि विपश्यना का साधक साधना सीखने के पहले अथवा बाद में अपने आपको बौद्ध कहे। कोई अपने आपको हिंदू, मुसलमान, यहूदी या जैन, चाहे जिस नाम से पुकारे परंतु यदि शीलवान है, समाधिवान है, प्रज्ञावान है तो निश्चितरूप से धर्मवान ही है और यदि इनसे दूर है तो भले अपने आपको बौद्ध कहे, शुद्ध धर्म से दूर ही है। सुख-शांति और विमुक्ति से दूर ही है। शुद्ध धर्म कभी संप्रदाय नहीं होता। विपश्यना शुद्ध धर्म है। अतः संप्रदाय नहीं है। चित्त की शुद्धि, मानसिक शांति और पारस्परिक प्रेम, मैत्री, करुणा किसी संप्रदाय-विशेष की ही बपौती नहीं होती। किसी वर्ग-विशेष तक ही सीमित नहीं होती। बल्कि सार्वजनीन होती है। विपश्यना यही सिखाती है। अतः सार्वजनीन है, विश्वजनीन है, सांप्रदायिक नहीं है।

विपश्यना में शुद्ध धर्म के छहों गुण विद्यमान हैं। यह सु-आख्यात है, सुबोध है, सरलता से सबकी समझ में आ सकने योग्य है, कोई दार्शनिक तर्कजालों की दिमागी कसरत नहीं।

यह सांदृष्टिक है, साम्परायिक नहीं। साधक स्वानुभूतियों के सहारे आगे बढ़ता है। उस पर परोक्षानुभूतियों का मिथ्या आरोपण नहीं किया जाता। वह

स्थूल यथार्थ के सहारे सूक्ष्म यथार्थ की ओर बढ़ता है। वह सूक्ष्मतम अवस्थाओं की अनुभूतियां करता हुआ परम सत्य निर्माण का साक्षात्कार कर लेता है। इसमें कल्पना को कहीं कोई स्थान नहीं है।

विपश्यना अकालिक है। अभ्यास का प्रत्यक्ष फल इसी काल में प्राप्त होता है। विपश्यना का साधक मरने के बाद बादलों के ऊपर किसी अज्ञात बैंक के चेक का भुगतान पाने की आशा से अभ्यास नहीं करता। उसे अपने अभ्यास का फल यहीं, इसी जीवन में, इसी लोक में प्राप्त होता ही है।

यह **'एहिपस्सिको'** गुण वाली है। जो भी इसे चखता है औरों को भी 'आओ और देखो' कहे बिना नहीं रह सकता। विपश्यना कोरा बुद्धिविलास नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभूति है। अतः स्वयं लाभ प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने परिचितों को इसे चखकर देखने के लिए प्रेरित करता ही है।

यह **'ओपनेय्यिनो'** स्वभाव वाली है। इस पथ पर उठाया हुआ प्रत्येक कदम नितांत विशुद्धि की ओर ही ले जाता है। कोई भी प्रयास निष्फल जाता ही नहीं। साधक को आगे की ओर ही बढ़ाता है। ऊपर की ओर ही उठाता है। विपश्यना का अभ्यास आदि, मध्य व अंत तक शील, समाधि और प्रज्ञा में ही प्रतिष्ठापित करने वाला है।

शुद्ध धर्म के इन गुणों के कारण ही विपश्यना सार्वजनीन साबित हुई। २५०० वर्ष पूर्व भी और आज भी। विश्वजनीन विपश्यना द्वारा विश्व के अधिक से अधिक पीड़ित लोगों को शांतिलाभ मिले– परम पूज्य स्व. सयाजी ऊ बा खिन के इस मंगल उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत में सयाजी ऊ बा खिन के शिष्यों ने उनकी स्मृति में एक ट्रस्ट का गठन किया और अब इगतपुरी की सुरम्य धरती पर विपश्यना विश्व विद्यापीठ और विपश्यना शोध संस्थान की स्थापना के निमित्त आवश्यक जमीन खरीद ली गई है और शीघ्र ही भवन-निर्माण का कार्य शुरू कर दिया जायगा। विश्वास है इससे अनेक लोगों को केवल १० दिन के ही नहीं, बल्कि लंबी अवधि वाले गहन अभ्यास के शिविरों का लाभ भी मिलेगा और आधुनिकतम वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा इसकी उपादेयता पर समुचित शोध कार्य हो सकेगा। समय पाकर इस विद्यापीठ से ऐसे पके हुए आचार्य तैयार हो सकेंगे जो कि न केवल भारत के कोने-कोने में, बल्कि विश्व भर में घूम-घूम कर विपश्यना के माध्यम से अधिक से अधिक मानवों को पीड़ामुक्त करेंगे।

विश्व को विपश्यना आचार्यों की आवश्यकता है। प्रसन्नता है कि गोयन्काजी के अतिरिक्त दो अन्य विपश्यना आचार्य प्रशिक्षण का कार्य करने लगे हैं। अमेरिका में श्री राबर्ट हॉवर और इंग्लैंड में श्री जॉन कोलमैन। ये दोनों ही

पूज्य सयाजी ऊ बा खिन के प्रिय शिष्य रहे हैं। दोनों ही पूज्य सयाजी द्वारा सिखाने के लिए चुन लिये गये थे। अधिक संख्या में साधकों को सिखा सकने का अनुभव प्राप्त करने के लिए दोनों ही भारत आये। यहां दो-दो शिविरों में शामिल हुए और तदंतर श्री गोयन्काजी द्वारा संचालित किये जाने वाले एक-दो शिविर स्वयं संचालित कर स्वदेश लौटे। श्री हॉवर जनवरी ७४ में और कोलमैन सितंबर ७४ में। तब से दोनों ही पश्चिमी देशों में बहुसंख्यक साधकों के शिविर लगाने लगे हैं। परंतु फिर भी लोगों की मांग इतनी अधिक है कि ये तीन विपश्यना आचार्य उसे पूरी नहीं कर सकते। इगतपुरी में विपश्यना विश्व विद्यापीठ शीघ्र से शीघ्र स्थापित हो, अधिक से अधिक लोग उससे लाभान्वित हों और समय पाकर उसमें से अधिक लोग प्रशिक्षण की ट्रेनिंग पाकर तैयार हों ताकि विश्वजनीन विपश्यना शीघ्र विश्व-व्यापिनी हो, अधिक से अधिक लोगों का भला हो, मंगल हो, कल्याण हो, यही धर्म कामना है।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ कार्तिक पूर्णिमा दि. २९-११-७४ अंक ६)

विपश्यनाः सुख से जीने की एक वैज्ञानिक कला

- राहुल सुमन छावरा

मां के गर्भ से बाहर आते ही हम सब से पहले रो-रोकर अपने साथ लायी हुई 'रागमयी' भावना को व्यक्त करते हुए दूध, पानी, हवा व देखभाल की चाह को व्यक्त करते हैं। उसके बाद जब हम मल-मूत्र आदि कर देते हैं तो वह स्थिति हमें अप्रिय लगती है, दुःखद लगती है जिसे हम द्वेषमयी भावना से हटाना चाहते है और फिर खीज-खीज कर रोते हुए उस 'द्वेषमयी' भावना को व्यक्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार शनैः-शनैः दूध पीने का राग, गोद में बने रहने का राग, हममें उसके प्रति एक मोहमयी भावना को जगाकर विकसित करने लगता है। फलस्वरूप जब हमें दूध पीने से हटाया जाता है, गोद से नीचे उतारा जाता है, हमारे हाथ का खिलौना छीना जाता है तो उनके प्रति मोह के कारण हम फिर पैर पटक-पटक कर रोने लगते हैं और अपनी उस 'मोहमयी' भावना को व्यक्त करते हैं।

ये रागमयी, द्वेषमयी और मोहमयी भावनाएं अपने अनुरूप संस्कारों को उत्पन्न कर विकसित होती रहती हैं। फलस्वरूप हम अपने जीवन में चाहते हुए, नहीं चाहते हुए, जानते हुए, नहीं जानते हुए, प्रत्येक सांस के साथ, पलपल ये रागमय, द्वेषमय व मोहमय संस्कार अर्जित करते हुए मन पर उनका भंडार जमा कर लेते हैं जो फिर समय-समय पर उनके अनुरूप वाणी और कर्मों के रूप में परिणत होकर, मनोविकार के रूप में विकसित होते हुए हमारे लिए कर्म-बंधन तैयार करते रहते हैं। ये मनोविकार ही फिर हमें जीवन मे अपनी राह पर धकेलते रहते हैं और हमें उनके अनुरूप नाच नाचने पड़ते हैं।

हमें जीवन में जो कुछ शारीरिक दुःख, रोग, मानसिक चिंताएं, भय, शक, आशंकाए-कुशंकाएं आदि आते हैं या भोगने पड़ते हैं, उनकी जड़ में हमारे अपने द्वारा संचित किए हुए ये संस्कार-मनोविकार ही होते हैं। इन संस्कार बंधनों से मुक्त होकर जीना ही सुख से जीना है। इनमें फंसकर रोते, पीटते, हाय-हाय करते, खीजते, कोसते, कलपते, राग-रंजित, द्वेष-दूषित व मोह-मूढ़ित मन को लिए जीना ही दुःखद जीना है।

अपने रोग को दूर करने के लिए हमें उसका कारण खोजकर उसे दूर करना पड़ता है। हम केवल डाक्टर की पूजा ही करते रहें, उसकी जय ही बोलते रहें, उसके चित्र को तिलक लगाते रहें, माला अर्पण करते रहें परंतु उसकी बताई बात न मानें, दी हुई दवाई का सेवन न करें, बताए हुए परहेज का ध्यान न रखें तो हम

अपने रोग से कदापि मुक्त नहीं हो सकते। ठीक इसी प्रकार जब तक हम अपने दुःख के कारणरूप संस्कार-मनोविकारों को देख-समझकर, खोजकर बाहर न निकाल दें, तब तक उनके परिणामों से मुक्त नहीं हो सकते। हम उन मनोविकारों को दबाने का प्रयास भले ही कर लें और कदाचित उन्हें दबा भी लें परंतु जब उनसे संबंधित विषय हमारे सामने आयेंगे तो वे संस्कार उनसे मिलते ही प्रबलता से उदय होकर उनके अनुरूप क्रिया (कर्म) करा ही लेगें। हमारे सामने विश्वामित्रजी जैसे कई उदाहरण मौजूद हैं जो हमें इस दिशा में जानने-समझने में मदद करते हैं। वर्षों तक साधना करके उन्होंने शक्ति अवश्य प्राप्त कर ली जिसके द्वारा वे वंदनीय पूजनीय बने रहे परंतु अपने मनोविकारों को बाहर निकालने की प्रक्रिया से, जो शायद उस समय तक विकसित नहीं हुई होने के कारण, अपरिचित रहे और वैसा नही कर सके, अतः परिणाम यह हुआ कि जब मेनका रूपी बारूद सामने आई तो कामवासना रूपी अग्नि स्वतः प्रज्वलित होकर एक विस्फोट कर गयी। ठीक इसी प्रकार हमारे सब के जीवन में भी पल-पल क्षण-क्षण ऐसा ही होता रहता है क्योंकि हमारे मनोविकार-संस्कार दिनों दिन, क्षण प्रतिक्षण बढ़ते ही तो रहते हैं। उन्हें क्षीण करने की न हम सोच पाते हैं और न वैसा प्रयास ही कर पाते हैं। फलतः अज्ञान में भटकते हुए दुःखी और परेशान बने रहते हैं।

तो आओ हम समझें कि ये संस्कार-मनोविकार कैसे सामने स्पष्ट दिखाई दें, और उन्हें हम कैसे दूर कर पायें। इसके लिए २,५०० वर्ष पूर्व योगी सिद्धार्थ द्वारा ९ वीं ध्यान पद्धति के रूप में विकसित की गई विधि 'विपश्यना ध्यान योग' है जो इस दिशा में सही, सच्चा और अचूक प्रयोग है, जिसे इसी क्षण आजमाकर देखा जा सकता है। इसके परिणाम को जानने के लिए मृत्यु तक रुकने की जरूरत नहीं है।

इसमें किसी भी तरह की पूजा, पाठ, नाम, जाप, मंत्र, तंत्र, अंधविश्वास, अंधभक्ति आदि कुछ भी, किसी भी रूप में नही है। सारी पद्धति विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक और सब के लिए सरलता से ग्राह्य है।

यह विपश्यना साधना किसी संप्रदाय विशेष, वर्ग-विशेष, जातिविशेष से बँधी न होकर सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सब के लिए एक जैसी मंगलमयी, कल्याणकारी एवं हित-सुखकारी है।

इस विधि के निरंतर प्रयोग द्वारा हमारे पुराने रागमय, द्वेषमय व मोहमय संस्कार धीरे-धीरे क्षीण होते हैं और नए बन नहीं पाते, क्योंकि इसका प्रयोगकर्ता संस्कारों से मुक्त होकर, भविष्य और भूतकाल की कल्पनाओं व स्मृतियों के झूले से मुक्त होकर, वर्तमान की स्थितियों, अवस्थाओं व समस्याओं में फँसे, अपने

संतुलित मन से शांति और धैर्य के साथ उनसे मुक्ति पा ही लेता है। उनका निदान कर ही लेता है। वह जीवन में जो कुछ भी करता है, सब प्रिय, सुखद, मंगलकारी, कल्याणकारी एवं हित-सुखकारी ही होता है।

क्या है यह विपश्यना? क्या है इसका अर्थ? इसे और स्पष्ट रूप से समझें।' 'विपश्यना' का अर्थ है 'विशेष रूपसे देखना' अर्थात शारीरिक और मानसिक विकारों का 'द्रष्टा' बनना, न कि भोक्ता या कर्ता - अर्थात 'आलंबन' और 'उद्दीपन' के बाहरी घटकों से विमुख होकर साधक अपने भीतर के विकार को, उसकी सूक्ष्म अवस्था में देखे और उसके गुण-धर्म-स्वभाव को वस्तुगत दृष्टि से (आब्जेक्टिवली) समझे।

आज टेक्नोलॉजी के युग के अभिशाप स्वरूप मानसिक तनाव, दबाव और खिंचाव से मुक्ति पाने के लिए यह 'टेक्निक' एक सहज और तुरंत प्रभावशाली विधि है।

इस ध्यान भावना के दौरान साधक निर्लिप्त रूप से राग, द्वेष व मोह रहित भावना से अपनी सुखद-दुःखद, प्रियकर-अप्रियकर संवेदनाओं को एक द्रष्टा के रूप मे देखता समझता है। इस प्रकार निर्लिप्त द्रष्टाभाव से देखने समझने के इस अभ्यास-क्रम को आगे बढ़ाते हुए स्वानुभूति होती है कि ये सुखद-दुःखद, प्रियकर-अप्रियकर संवेदनाएं तो सदा उत्पन्न होती रहती हैं। दुःखद संवेदनाओं से तो हम मोह के कारण दुःखी होते ही हैं परंतु सुखद संवेदनाओं के विलीन होने पर उनके अभाव मे भी मोह के कारण ही दुःखी होने लगते हैं।

इस प्रकार के निरंतर अभ्यास से साधक एक परम सत्य का अनुभव और अनुशीलन करता है कि सारी सुखद-दुःखद, प्रियकर-अप्रियकर संवेदना, स्थिति व अवस्था जो कुछ भी है, जैसी भी है, वह निरंतर बनते-बिगड़ते रहने का एक 'अनित्य' स्वभाव लिए हुए है। परिणाम स्वरूप उसकी प्रियकर-सुखद के प्रति राग और अप्रियकर-दुःखद के प्रति द्वेष की भावना स्वतः ही कम होती हुई नष्ट होने लगती है और अनासक्तभाव स्वतः ही विकसित होने लगता है।

इस क्रम में निरंतर गहरा अनुभव उस अनासक्त साधक को एक और कटुसत्य का भान कराता है कि सारे दुःख, परेशानी, चिंता, भय आदि का कारण और कोई अन्य न होकर उसके अपने लगाव, चिपकाव की जननी 'आसक्ति' ही है वह फिर यह भी जान-समझ लेता है कि उसको हटाये बिना वह उसके प्रभावों से मुक्त नहीं हो सकेगा। अतः वह यह भी जान-समझ लेता है कि यह विपश्यना ध्यान विधि इस दिशा में एक सही, सच्ची और अचूक विधि है जसके निरंतर अभ्यास करने के लिए वह फिर स्वतः ही कटिबद्ध होकर उस ओर निरंतर अग्रसर

होने लगता है। इस अभ्यास को निरंतर करते हुए साधक निर्लिप्त जीवन जीने लगता है और जीवन में जो दुःख-सुख, उतार-चढ़ाव आते हैं उनसे प्रभावित नहीं होता। जब-जब उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, भय आदि विकारों का उदय होने लगता है तब-तब वह तुरंत इस विधि का प्रयोग करके उनमें डूबने, फँसने और प्रभावित होने के बजाय, जैसे कमल पानी में होते हुए भी उससे मुक्त रहता है, ठीक उसी प्रकार वह भी संसार में रहते हुए निर्लिप्त सुखी एवं शांत जीवन, ऊपर-ऊपर तैरता हुआ जीता है। विपश्यना साधना साधक को इन अमूर्त विकारों को 'द्रष्टा' भाव से देखने समझने की सामर्थ्य प्राप्त करने में विशेष रूप से सहायक होती है।

संक्षेप में 'विपश्यना' यदि हमारे जीवन की शैली बन जायगी तो हमें जीवन के खिंचावों, तनावों, दबावों आदि से छुटकारा पाना बहुत आसान हो जायगा। चिंताएं आयेंगी परंतु टिक नहीं पायेंगी, खिंचाव या तनाव आयेंगे पर रुक नहीं पायेंगे, मानसिक विकार उदय होंगे परंतु वे भी तुरंत विलीन हो जायेंगे। मजहब संप्रदाय की सीमा से परे की इस वैज्ञानिक पद्धति 'विपश्यना' के अभ्यास द्वारा मानसिक संतुलन बना रहता है जिसके कारण साधक शांति और धैर्य के साथ सब समस्याओं और अप्रियकर दुःखद स्थितियों, अवस्थाओं का निराकरण आसानी से कर लेता है।

अ - इस विपश्यना विधि के अभ्यासकर्ता का मन जैसे-जैसे, लगाव-चिपकाव, खिंचाव-तनाव आदि से मुक्त होता जाता है, वैसे-वैसे ही उनके कारण होने वाले रोग जैसे-रक्तचाप, हृदयरोग, माइग्रेन, सिर-दर्द, नींद का न आना, उन्माद, अस्थमा आदि-आदि भी शनैः-शनैः अपने आप जड़ से उखड़कर दूर होने लगते हैं।

ब - इसके अभ्यासकर्ता की स्मरण शक्ति और सृजन शक्ति का विकास होता है, जिसके द्वारा वह अभूतपूर्व कार्य करने लगता है।

स - इसके अभ्यासकर्ता के दुर्व्यसनों के बंधन स्वतः ही ढीले होने लगते हैं और वह शनैः-शनैः अपने आप उनसे सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

द - इसके अभ्यासकर्ता को चिंताओं और समस्याओं को दूर करने के लिए आंतरिक बल, उत्साह, साहस और धैर्य मिलता रहता है।

च - इसके अभ्यासकर्ता को, सारा भय-भैरव, आशंकाएं-कुशंकाएं समाप्त होकर निर्भयता प्राप्त होती जाती है।

छ - इसका अभ्यासकर्ता तुनक-मिजाजी व अत्यधिक क्रोधी स्वभाव व चिड़चिड़ेपन से मुक्त होकर शांत सुखी और मैत्रीपूर्ण जीवन जीने लगाता है।

ज - इसके अभ्यासकारी की यदि कोई लूट-पाट, चोरी, बेइमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट व शोषण-वृत्ति है तो वह अपने आप शनैः-शनैः सदा-सदा के लिए जड़ से उखड़कर समाप्त हो जाती है। उसमें फिर त्याग, सेवाभाव जागने लगता है और चित्त की उस त्यागमय वृत्ति के कारण ही वह सुख शांति और होश में जीता है और होश में ही शांति के साथ सुखद रूप में मरने के कारण उसकी सुखद चित्त धारा का अपना अगला सिलसिला पुनर्जन्म के रूप मे फिर वैसे ही बनता है जो कि निःसंदेह सुखद एवं शांतिदायक ही होता है।

यह मंगलमयी कल्याणकारी विधि भारत में ही गया के समीप उरुवेला बन मे २,५०० वर्ष पूर्व योगी सिद्धार्थ द्वारा खोजी एवं विकसित की गयी थी। सारनाथ में सबसे पहले ५ श्रमणों ने इसे आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन सीख-समझकर प्रयोग करके देखा था। उसके बाद अपने आचार्य शास्ता भगवान बुद्ध के निर्देशनुसार भारत के सभी क्षेत्रों में फैली, पनपी और गुरु-शिष्य परंपरा के आधार पर बर्मा, लंका, चीन, जापान, थाईलैंड, सुमात्रा, जावा, कम्बोडिया, रूस मंगेलिया, तिब्बत, नेपाल, भूटान, सिक्किम आदि देशों में भी पहुँची और वहां के लोगों को सुखी बनाया।

पड़ोसी देश बर्मा में यह विधि अभी तक विशुद्ध रूप से सुरक्षित है। वहां के अधिकांश लोग इसका अभ्यास करते हुए ब्रह्मविहारी बने रहते थे। इसीलिए उस देश का नाम ब्रह्मदेश पड़ा होगा। परंतु अंग्रेजों ने उसे अपने उच्चारण में बर्मा देश कहकर पुकारा जो आज बदल कर 'म्यंमा' हो गया है।

बर्मा के प्रसिद्ध उद्योग-पति व व्यवसायी श्री सत्यनारायणजी गोयन्का इस मंगलमयी और कल्याणकारी विधि को अब पुनः भारत लेकर आये हैं। श्री गोयन्काजी २५ वर्षों तक माइग्रेन सिर-दर्द से पीड़ित रहे उस रोग से मुक्त होने के लिए उन्होंने बहुत रुपया खर्च करके ६ बड़े देशों में जाकर इलाज कराया था परंतु रोग बढ़ता ही गया। अंत में उनके मित्र बर्मा के मुख्य न्यायाधीश ऊ छा ठुन के परामर्श से उन्होने १० दिन की विपश्यना साधना का अभ्यास, बर्मा के तात्कालिक अकाउंटेंट जनरल ऊ बा खिन के निर्देशन में किया और सदा-सदा के लिए उस भयानक रोग से मुक्त हो गए।

उसके बाद वे इसी कल्याणकारी एवं मंगलमयी विधि का १४ वर्षों तक अभ्यास करते रहे और उसे सिखा सकने की उन्नत स्थिति प्राप्त कर ली और अपने गुरुदेव के आदेश-निर्देश एवं आशीर्वाद से भारतवासियों को उनकी प्राचीन कला लौटाने के लिए अब यहां आए हुए हैं।

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का ३-७-६९ से अब तक १०-१० दिन के विपश्यना ध्यान शिविर देश के विभिन्न स्थानों पर लगा रहे हैं। इनमें अनेक लोग शामिल होकर सुखी जीवन जीने की यह मंगलमयी व कल्याणकारी वैज्ञानिक विधि सीखते हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सभी संप्रदायों के संन्यासी एवं गृहस्थ भाई बहन सब एक साथ मिलकर सहोदर भाई बहनों की तरह इसका लाभ लेते हैं।

विपश्यना साधना विधि सिखाने की कोई फीस नहीं ली जाती है। करुणा व मंगल भाव से प्रेरित होकर सबके मंगल व हित-सुख के लिए वह इसे कल्याण-मित्र के रूप में सिखाते है।

साधक को अपने लिए कुछ नहीं देना पड़ता। उसे जो लाभ मिला वैसा लाभ औरों को मिले, इस उदात्त भावना से अपनी शक्ति-सामर्थानुसार जो भी दान देना चाहे, वही स्वीकार्य होता है।

('सम्यक दृष्टि' मासिक, अजमेर से साभार उद्धृत)

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ मार्गशीष पूर्णिमा दि. २९-१२-७४ अंक ७)

उद्‌बोधन : मन का संवर

मेरे प्यारे साधक/साधिकाओ!

आओ, विपश्यना द्वारा मन का संवर करना सीखें! बड़ा मंगलदायी है मन का संवर!

संवर होगा तो ही मन संवरेगा, सुधरेगा, स्वच्छ होगा। तो ही मानसिक दुराचरण से बच सकेंगे। तो ही मानसिक सदाचरण में लग सकेंगे। तो ही वाचिक और कायिक दुराचरण से बच सकेंगे। तो ही वाचिक और कायिक सदाचरण में लग सकेंगे।

मन का संवर नहीं होता तो मन की गहराइयों में समायी हुई संस्कार-ग्रंथियों की निर्जरा नहीं होती, उनका उपशमन नहीं होता, उनका विमोचन नहीं होता, उनसे विमुक्ति नहीं होती। कर्म-संस्कारों का संचित पुंज मन को अपने सहज निर्मल स्वभाव में स्थित नहीं होने देता।

कर्म-संस्कार अज्ञान की ही उपज हैं और अज्ञान भी कर्म-संस्कारों से ही घनीभूत होता है। यह घनीभूत अज्ञान ही हमें यथाभूत दर्शन नहीं करने देता। जो अनित्य है उसकी अनित्यता का दर्शन नहीं करने देता, उसके प्रति नित्यता का भ्रम पैदा करते रहता है। बौद्धिक स्तर पर सैद्धांतिक स्तर पर हजार अनित्यता को स्वीकारते रहें, पर यथार्थ के स्तर पर तो सदा नित्य भाव में ही आबद्ध रहते हैं।

जीवन में जब कभी मनचाही स्थिति पैदा होती है, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, सत्ता-शक्ति उपलब्ध होती है तब उसे नित्य मानकर ही ऐसे अंधेपन का बरताव करने लगते हैं जो कि स्वपीड़न और परपीड़न का कारण बनता है। गर्व घमंड की स्टीम से भरे अंधे रोलर की तरह सबकी सुख-शांति कुचलते चलते हैं। जरा भी होश नहीं रहता कि यह स्थिति सदा रहने वाली नहीं है।

और फिर प्रकृति के नियमों के अनुसार वह मनचाही स्थिति देर-सबेर नष्ट होती है और उसके विनष्ट होने पर अनचाही स्थिति उत्पन्न होती है तो फिर अज्ञान का अंधापन आ घेरता है। इसी अंधेपन के कारण ही उस दुःखद स्थिति को भी नित्य ही मान बैठते हैं और उदासी, निराशा, कुंठा, हीन-भावना, चिड़चिड़ाहट, उद्विग्नता, दुश्चिंता आदि में आकंठ डूब जाते हैं। जरा भी होश नहीं रहता कि यह स्थिति भी तो सदा रहने वाली नहीं है।

स्थिति चाहे सुखद आए या दुःखद, जहां अंधेपन में डूबकर उसे नित्य मानने लगते हैं, वहां मन का संतुलन खो बैठते हैं, मन की निर्मलता खो बैठते हैं,

मन की सुख-शांति खो बैठते हैं। दोनों ही अवस्था में त्रिविध दुराचरण करते हैं और अपने दुखों का स्वयं संवर्धन करते हैं।

जागरूकता का अभ्यास करते हुए मन का संवर करेंगे तो दुख-संवर्धन करने वाली इस अज्ञानजन्य प्रमत्त अवस्था से शनैः शनैः छुटकारा पाते जायेंगे। सभी क्लेशों के, आस्रवों के, कषायों के, कर्म-कलुषता के बंधन से मुक्त होते जायँगे। दुःखों से छुटकारा पाते जायँगे। दुःख-बंधन और दुःख-निरोध का यह नैसर्गिक नियम सब पर ही लागू होता है। चाहे कोई अपने आप को बौद्ध कहे या जैन या अन्य कुछ। इस नामकरण के भेद से कुछ भी तो अंतर नहीं पड़ता।

अतः साधको! आओ, प्रकृति के इस अटूट नियम को समझते हुए विपश्यना द्वारा मन का संवर करें। सचमुच बड़ा मंगलदायी है मन का संवर!!

---o---

विपश्यना चित्त शुद्धीकरण की साधना

– (डा. भीमसी जी. सावला भुज)

एक ही घटना के प्रति भिन्न-भिन्न लोगों का भिन्न-भिन्न बर्ताव और भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। एक घटना घटी कि उसकी वजह से किसी एक व्यक्ति के गुस्से का पार नहीं, जबकि दूसरे व्यक्ति को मामूली गुस्सा ही आकर रह गया। कोई ऐसा भी व्यक्ति होगा जिसे इस घटना से गुस्सा आया ही नहीं। घटना तो एक ही है, फिर भी हर एक की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। इसका कारण यही है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना स्वभाव और अपना-अपना संस्कार होता है।

पूर्व के जो संस्कार संचित कर रखे हैं वे ही स्वभाव बन कर प्रकट होते हैं। पूर्व के जो राग और द्वेष के संस्कार भरे हुए है, उन्ही के कारण भटकता हुआ मन सतत राग-द्वेष के नए-नए आलंबनों से संपर्क करता रहता है और नई-नई गांठें बांधता हुआ गांठगँठीला बनता रहता है।

जिसे स्वस्थ, सुखी और निरोगी जीवन जीना है उसे इन पूर्व बंधित ग्रन्थियों से छुटकारा लेना ही होगा। इसी से राग-द्वेष के नए-नए संस्कारों का प्रजनन होना बंद होगा। यह भगीरथ कार्य विपश्यना-साधना द्वारा वैज्ञानिक पुद्धति से सरलता से करने के लिए हमें उसे स्वच्छ करना ही पड़ता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण मैला होते रहने वाले मन को भी धोते रहना आवश्यक है। विपश्यना साधना यही सिखाती है कि कैसे मन को धोया जाय, कैसे मन में पड़ी गांठों को दूर किया जाय।

मन के तीन हिस्से हैं। जाग्रत, अर्ध-जाग्रत और अजाग्रत। आज का विज्ञान इसे ऐसे ही स्वीकार करता है। सामान्य अवस्था में हम जाग्रत मन यानी बाह्य मन को ही जानते हैं, जब कि अर्धजाग्रत या अजाग्रत यानी अंतर्मन को नहीं जानते। जाग्रत मन पर गुस्सा उतरते ही हम बाह्य स्तर पर प्रत्यक्ष गुस्से का व्यवहार करने लगते हैं। यही बात सारे विकारों की है। जाग्रत मन तक आते ही हमारा सारा बाह्य व्यवहार उन विकारों के अनुकूल ही होने लगता है। पूर्व संचित राग-द्वेष के विकारों की ही तरह काम, भय, लोभ इत्यादि विकारों की ग्रंथियां भी हमारे अंतर्मन में पड़ी हुई हैं। इसी कारण प्रत्येक विकार सबसे पहले मन के इस भीतरी हिस्से में ही जागता है और फिर बाह्य मन पर प्रकट होता है और हमारे सिर पर सवार हो जाता है।

जैसे ही अंतर्मन में कोई विकार जागता है वैसे ही किसी प्रकार की सूक्ष्म संवेदना भी प्रकट होती है। यह संवेदना शरीर में प्रकट होती है। गुस्सा आता है तो उसकी संवेदना शरीर में कंपन पैदा करती है, शरीर में गर्मी उत्पन्न करती है। भय आता है तो भय की संवेदना से शरीर ठंढा पड़ जाता है, श्वास धीमा पड़ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन और शरीर का गहरा संबंध है।

विपश्यना की साधना अंतर्मुखी होने की साधना है। इसके द्वारा हम अपने जाग्रत मन को एकाग्र करके अर्धजाग्रत या अजाग्रत के प्रति भी जाग्रत हो जाते हैं। जागृति की चेतना इतनी विकसित हो जाती है कि जाग्रत और अजाग्रत मन का भेद दूर हो जाता है। परिणाम स्वरूप किसी संस्कार का चिपकाव अजाग्रत मन में हो तो उसकी संवेदना जाग्रत मन तुरंत महसूस कर लेता है। बस, जिस विकार को अंतर्मन की गहराइयों में पकड़ना आ गया, उस विकार की ताकत अपने आप कम हो गयी। फिर वह विकार, क्रोध हो या भय या अन्य कुछ, जाग्रत मन पर सवार नहीं हो सकता। इस प्रकार मनुष्य अपने मन के स्वभाव को जीत सकता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी पूर्व ग्रन्थियों से मुक्ति पा सकता है।

इस साधना की क्या विधि है इसे जरा संक्षेप में समझ लें – विपश्यना का ध्येय बाह्य मन को एकाग्र करके अंतर्मन में विद्यमान विकारों और उनकी संवेदनाओं को जान लेना है। कोई विकार जागे तो सांस उत्तेजित या धीमी पड़ भी जाती है। यह हम सब अपने अनुभव से जान सकते हैं। इसका कारण यही है कि सांस का मन के साथ गहरा संबंध है। इसीलिए विपश्यना का साधक श्वास का सहारा लेकर मन की गहराइयों तक जा पहुँचता है। यह अभ्यास प्राणायाम नहीं है। परंतु हम जो स्वाभाविक सांस ले रहे हैं, उसे ही मन से जानते रहना है। मन इतना बहिर्मुखी रहने का आदी हो गया है कि शुरू-शुरू में स्वाभाविक

श्वास-प्रश्वास को जानते रहना ही कठिन लगता है। मन बार-बार भटक जाता है और भूतकाल की किसी याद में अथवा भविष्यकाल की किसी कल्पना में जा उलझता है। परंतु प्रयत्न द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का मन अंततः काबू में आ ही जाता है। लगभग तीन दिनों के अभ्यास से मन एकाग्र और सूक्ष्म बन जाता है और शरीर तथा अंतर्मन में होने वाली संवेदनाओं को पकड़ सकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। साधना के इस पहले तीन दिन के अभ्यास को आना-पान सति (श्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता) कहते हैं। मन की गहराइयों में उतरने के लिए यह अभ्यास जरूरी है।

इसके बाद विपश्यना यानी अंतर्मुखी होने की विधि आरंभ की जाती है। आनापान द्वारा सूक्ष्म बन गये मन को शरीर एवं अंतर्मन में होती रहने वाली संवेदनाओं को जानते रहने का क्रमशः अभ्यास कराया जाता है। ये संवेदनाएं कभी दुःखद होती हैं, कभी सुखद। साधक को उन्हें द्रष्टाभाव व समताभाव से देखना सिखाया जाता है। इस प्रकार तटस्थभाव से संवेदनाओं का खेल देखते रहने से विकारों से छुटकारा मिलने लगता है। भोक्ताभाव न होने से नया संस्कार बनता नहीं (संवर) और पुराने संस्कारों का शमन होते जाता है (निर्जरा)। मन की जितनी-जितनी एकाग्रता और सूक्ष्मता बढ़ती जाती है वह उतना-उतना निर्मल होते जाता है, अंतर्मन की शुद्धि होती है और परिणामतः कहा नहीं जा सकता कि किस तरह मन की कौन सी ग्रंथि खुलती जाती है। इसी से साधक कई बार असाध्य रोगों से भी मुक्ति पा लेता है।

मन का नैसर्गिक स्वरूप तो ब्रह्म स्वरूप है। अर्थात जिसमें मैत्री, करुणा, मुदिता, और उपेक्षा ही समायी रहती है। साधना के अभ्यास से मन जैसे-जैसे विकारों से मुक्त होते जाता है, राग-द्वेष कम होते जाते हैं। वैसे-वैसे निर्मल होते हुए मन में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की तरंगे स्वतः उठने लगती हैं जिससे कि मानसिक विशालता उत्पन्न होती है। व्यवहार जगत में मानसिक शक्ति और कार्य-क्षमता बढ़ती है। जीवन में स्नेह सौहार्दपूर्ण सामाजिकता, पर-परायणता, प्रेम, सुख-शांति, समाधान आदि आने लगते हैं। और साथ-साथ स्वाभाविक आनंद का विकास होने लगता है। जीवन जीने की सच्ची कला हाथ लग जाती है।

१० दिवस की विपश्यना साधना में प्रथम तीन दिवस आना-पान सति का अभ्यास कराया जाता है। इसके बाद विपश्यना के अभ्यास द्वारा अंतर्मुखी होना सिखाया जाता है और अंतिम दो दिवस विपश्यना के साथ-साथ मैत्री-ब्रह्मविहार

की साधना सिखाई जाती है। योग्य आचार्य के पास प्रत्येक प्रामाणिक व्यक्ति इस साधना में अच्छी प्रगति कर धन्य बन सकता है।

विपश्यना विधि मनुष्य के मन के विकारों को दूर करने के लिए अत्यंत ही सरल और वैज्ञानिक विधि हैं। इसका किसी देश-काल व धर्म के साथ कोई विरोध नहीं, इस कारण किसी भी धार्मिक संप्रदाय का, किसी भी देश का, कोई भी व्यक्ति इसमें भाग ले सकता है। यह विधि सीखते वक्त किसी विशेष प्रकार के आसन या मुद्रा में बैठने की भी आवश्यकता नहीं होती। जिसे जैसी स्थिति सुखद लगे, उसी में बैठकर साधना कर सकता है। कभी-कभी किसी को कमर या पांव में किसी विशेष कारण से कोई पीड़ा हो अथवा हृदय की या शरीर के अन्य किसी भाग की कोई गंभीर बीमारी हो तो ऐसी विशिष्ट अवस्थाओं में साधक को नीचे जमीन पर न बैठाकर कुर्सी पर बैठने की भी अनुमति दी जाती है। किसी-किसी को बिस्तर पर लेटे-लेटे भी साधना करने की अनुमति दी जाती है।

भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में विपश्यना साधना का अभ्यास कराने वाले आचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का ने यह साधना ब्रह्मदेश में प्राप्त की। चित्त-शुद्धि की विपश्यना विधि वस्तुतः पुरातनकाल की ही विधि है। कुछ समय के लिए देश से यह विधि लुप्त हो गई थी। भगवान बुद्ध ने अनंत वर्षों तक तपस्या करके इस विधि को पुनः खोज निकाला और कालांतर में सम्राट अशोक ने जब इसे अपनाया तो इसकी वजह से भारत और भारत के बाहर अनेक दुःखी लोगों का यह दुःख निरोध करती रही। बीमार, अशांत, पथभ्रष्ट लोगों का कल्याण करती रही। परंतु फिर एक समय आया जबकि यह भारतवर्ष से पुनः लुप्त हो गई।

परंतु बर्मा में पहुँची हुई कल्याणी विधि समय-समय पर प्रज्ञावान आचार्यों के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखी गई।

श्री गोयन्काजी भारत में भिन्न-भिन्न स्थानों पर शिविरों द्वारा इस साधना का अभ्यास करवा रहे हैं। इनके सान्निध्य में तारीख १५-२-७५ से ७-३-७५ तक १०-१० दिन के शिविर कच्छ के निगाल गांव, तालुका अंजार में आयोजित किये जा रहे हैं। इन शिविरों से अनेक लोगों का कल्याण हो, यही मंगल भावना है।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ पौष पूर्णिमा दि.२७-१-७५ अंक ८)

विपश्यना : उद्देश्य, पद्धति और विशेषताएं

क्रिया प्रधान प्रणाली

भारत में वर्तमान युग में साधना संबंधी विविध पद्धतियां सामने आयी हैं। उनमें से एक पद्धति 'विपश्यना' भी है जिसने देश-विदेश में उल्लेखनीय ख्याति प्राप्त की है। यह पद्धति बड़ी ही विलक्षण है। इससे हमारे सभी विकारों का शोधन व रेचन होता है तथा हमारी सूक्ष्म शक्तियों का विकास भी एक साथ ही होता है। यह प्रणाली पूर्णतः क्रिया प्रधान है। इसमें कोई भी बात ऐसी नहीं है जो केवल विचार जगत की हो और जीवन-व्यवहार में उसका क्रियात्मक रूप न हो। कोई भी व्यक्ति यह साधना करके तत्काल लाभ उठा सकता है।

विपश्यना श्रमण संस्कृति की साधना पद्धति है। अतः ज्ञान, दर्शन व चरित्र अथवा शील, समाधि, प्रज्ञा इसके मुख्य आधार है। यह पद्धति श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित होने से भारत में जैन साधना पद्धति के अधिक निकट है। इसकी साधना करते समय कर्म की ग्रंथियों का बंध, उदय, उदीरणा, उपशम, क्षय, संवर, निर्जरा आदि कैसे होते है, इसका क्रियात्मक रूप तथा आज से ढाई हजार वर्ष पहले श्रमण संस्कृति में ध्यान, कायोत्सर्ग, सामायिक आदि साधनाओं के जो रूप थे, उन सब की एक झलक सामने आ जाती है।

स्वसंवेदन का अनुभव ही विपश्यना :

'विपश्यना' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'पश्य' धातु से बना है। 'पश्य' का अर्थ है देखना और 'वि' उपसर्ग लगने से अर्थ हो जाता है– विशेष प्रकार से अर्थात् यथार्थ व सम्यक प्रकार से देखना। दूसरे शब्दों में कहें तो स्व-संवेदना का अनुभव करना ही विपश्यना है; आत्मानुभूति की प्रक्रिया ही विपश्यना है।

विपश्यना का अर्थ है– सम्यक दर्शन। परंतु यहां देखने से अभिप्राय चर्म-चक्षुओं से देखना नहीं है प्रत्युत यथार्थ अनुभव करना है। अर्थात जो वस्तु या स्थिति जैसी है उसे वैसा ही देखना [यथार्थ अनुभव करना] यानी राग, द्वेष, मोह की दृष्टि से न देखना ही विपश्यना है। पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अति सूक्ष्म है अतः उसे देखने के लिए दृष्टि भी अति सूक्ष्म चाहिए। हमारी दृष्टि अभी बहुत स्थूल को ही देखने में समर्थ है। सूक्ष्म को देखने की शक्ति इसमें नहीं है। अभी चैतन्य व परमाणु को देखने की बात तो दूर रही, हम अपने चित्त और शरीर के भीतरी भाग सूक्ष्म शरीर व अचेतन मन की स्थिति को ही नहीं देख पाते, अनुभव

नहीं कर पाते हैं। अतः विपश्यना में दर्शन की प्रक्रिया स्थूल से प्रारंभ होकर सूक्ष्मतम तक पहुँचती है। विपश्यना में देखने या अनुभव करने की क्रिया स्थूल शरीर से प्रारंभ होती है और सूक्ष्म शरीर, चेतन मन, अचेतन मन, मन की ग्रन्थियों, कामनाओं, वासनाओं, कर्म के उदय, फल देने की क्रिया, वस्तु के परमार्थ स्वरूप व शुद्ध चेतन के देखने व अनुभव करने तक पहुँचती है। विपश्यना की यह सब प्रक्रिया ध्यान साधना कही जाती है। इसमें चित्त की एकाग्रता, सतत जागरूकता, प्रगाढ़ समभाव नैरंतर्य बना रहता है।

उद्देश्य : विपश्यना साधना का उद्देश्य है– दुःख से पूर्णतया एवं सदा के लिए मुक्ति एवं अक्षय, शाश्वत सुख की प्राप्ति, जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारों को सर्वथा अंत कर वीतराग बनने पर ही संभव है। अतः पूर्ण निर्विकार वीतराग होना ही इसका लक्ष्य है।

उपक्रम: अपने को निर्विकार बनाने के लिए, शील समाधि, प्रज्ञा की आवश्यकता होती है। अतः सर्व प्रथम इसमें निम्नांकित पाठ से साधना काल में शील पालने की दीक्षा दी जाती है–

पाणाइवायाउ वेरमणं, मुसावायाउ वेरमणं, आदिन्नादाणाउ वेरमणं, कुशील वेरमणं, पमायं वेरमणं अर्थात् साधना के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, प्रमाद की त्यागरूप पंचशील की प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है।

विपश्यना-साधना की आधारशिला शील पालन माना जाता है। इस पद्धति में शिविर काल में भजन, कीर्तन, माला, मंत्र, नाम-जप, धूप-दीप, रूप-स्मरण आसन, प्राणायाम पढ़ाई-लिखाई आदि चित्त को एकाग्र करने के साधनों का, आलम्बनों का निषेध किया जाता है या प्रतिबंध लगाया जाता है। कारण कि इन आलंबनों से चित्त के एकाग्र होने में सहायता तो मिलती है परंतु चित्त की एकाग्रता इन आलम्बनों पर निर्भर हो जाती है। चित्त इन बाहरी आलंबनों में ही रमण करने लगता है। फलतः चित्त को इन आलंबनों को छोड़ सूक्ष्म बनाने अर्थात अंतर्द्रष्टा [आत्म-दर्शन करने वाला] बनने में बाधा उत्पन्न होती है।

इस पद्धति में साधना काल में शील की सुरक्षा व चित्त की समता को पुष्ट बनाने के लिए आमोद-प्रमोद, हंसी-मजाक, इत्र-सुगंध, शराब, धूम्रपान, पत्र-व्यवहार, देश-समाज की चर्चा करना, अखबार पढ़ना, शृंगार-प्रसाधन, इन्द्रिय व मन को उत्तेजित करने वाले भोग के साधनों से बचने पर बड़ा बल दिया जाता है। तथा इसमें सादगी, अल्प भोजन, अल्प निद्रा व मौन को अत्यावश्यक माना गया है।

समय: साधक को प्रातः ४ बजे उठकर रात्रि के १० बजे तक साधनारत रहना पड़ता है। खाते-पीते, बोलते-चलते समय भी साधना की निरंतरता बनाये रखने पर पूरा जोर दिया जाता है। प्रतिदिन लगभग बारह घण्टे ध्यान साधना में बैठना होता है। सामूहिक रूप से तीन बार एक-एक घण्टे बिना हिले डुले कठोर ध्यान-साधना व तपश्चरण करना भी अनिवार्य है।

स्थान: एकांत अपनी-अपनी कोठरी में बैठकर ध्यान करना अधिक लाभकारी माना जाता है। प्रकाश आंखों पर पड़ना, पंखे की हवा लगना आदि ध्यान में बाधक हैं। अतः इनसे बचा जाता है। ध्यान में सुखासन से आंखें बंद करके बैठना होता है।

साधना का प्रथम चरणः

शील दीक्षा धारण करने के पश्चात इस ध्यान-साधना में सर्वप्रथम 'आनापान सति' का अभ्यास प्रारंभ होता है। 'आनापान' का अर्थ है श्वास-प्रश्वास और 'सति' शब्द का अर्थ है स्मृति अर्थात श्वास लेने व छोड़ने पर चित्त को जागरूक रखना, आनापान सति कहा जाता है। इसमें स्वाभाविक सहज रूप से चलने वाले श्वास-प्रश्वास को ही स्थान दिया जाता है। प्राणायाम या प्रयत्न पूर्वक दीर्घ या लघु, तेज या मंद श्वास लेने को साधना में बाधक माना जाता है। आनापान सति का मुख्य लाभ चित्त को एकाग्र व नियंत्रित करना है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि चित्त को एकाग्र व नियंत्रित करने के लिए श्वास के आवागमन पर ध्यान लगाने को महत्त्व क्यों दिया गया है? उत्तर में कहा जाता है कि किसी भी कार्य-सिद्धि के लिए चित्त का सबल व तीक्ष्ण होना आवश्यक है। चित्त की सबलता व तीक्ष्णता के लिए उसका एकाग्र होना आवश्यक है। कारण कि चंचल चित्त इधर-उधर दौड़ता रहता है इससे उसकी शक्ति इधर-उधर विखर जाती है और वह निर्बल हो जाता है। निर्बल चित्त राग-द्वेष के झोंकों से इधर-उधर डोलता रहता है, किसी एक निश्चित दिशा में नहीं बढ़ पाता है। यह गति तो करता है परंतु प्रगति नहीं करता। फलतः उससे कार्य-सिद्धि की आशा नहीं की जा सकती। अतः कार्य-सिद्धि के लिए चित्त की एकाग्रता व सबलता अत्यावश्यक है।

साधना में केवल चित्त की एकाग्रता ही काम नहीं देती, उसके साथ जिस साधन से वह एकाग्र हुआ है उस साधन की शुद्धता भी आवश्यक है। क्योंकि चित्त एकाग्र तो हो परंतु राग-द्वेष में भोग-संभोग में, मोह-सम्मोह में, क्रोध-लोभ में, मान-माया में, निद्रा-नशे में एकाग्र हो तो ऐसा चित्त विकारग्रस्त होता है। विकारग्रस्त चित्त की एकाग्रता से प्रशस्त उद्देश्य की सिद्धि संभव नहीं है। कारण

कि यह नियम है कि भला या बुरा जैसा साधन होता है, साध्य को भी वैसी ही सिद्धि होती है। बुरे साधन से भले साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः साधना में चित्त को एकाग्रता के साथ, जिसमें चित्त एकाग्र हो, वह साधन भी ऐसा होना चाहिए जिससे राग-द्वेष मोह उत्पन्न न हों। श्वास-प्रश्वास ऐसा ही साधन है जिस पर चित्त को एकाग्र करने पर वह राग-द्वेष एवं मोह की उत्पत्ति में निमित्त कारण नहीं बनता तथा मोह, मूर्च्छा, निद्रा, प्रमाद को भी उत्पन्न नहीं होने देता। श्वास पर ध्यान लगाने से सतत जागरूकता बनी रहती है और यह सर्वमान्य तथ्य है कि जागरूकता के बिना साधना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। सजग मन वस्तु, विचार, घटना की गहराई तक देखने में अर्थात अंतर्दर्शन करने में सक्षम होता है। चंचल-चित्त वाला व्यक्ति सम्यक-दर्शन नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि श्वास के आने-जाने पर ध्यान लगाना चित्त को एकाग्र, सूक्ष्म, सक्षम, सजग बनाने का बड़ा सरल सुगम उपाय है

साधना का द्वितीय चरण :

आनापान सति से चित्त की एकाग्रता, सक्षमता, सजगता का अभ्यास हो जाने के पश्चात विपश्यना का प्रारंभ होता है। विपश्यना का अर्थ है सम्यक-दर्शन या यथार्थ अनुभव। यथार्थ अनुभव के लिए सर्व प्रथम मिथ्या मान्यताओं, कल्पनाओं और पूर्व धारणाओं को छोड़ना आवश्यक होता है। जिस प्रकार आंखों पर रंगीन चश्मा चढ़ा हुआ व्यक्ति वस्तुओं के यथार्थ रूप को नहीं देख सकता है। उसे वस्तुओं के यथार्थ रूप को देखने के लिए रंगीन चश्मे को उतारना ही पड़ता है। इसी प्रकार सम्यक-दर्शन के लिए मन को सब कल्पनाओं से मुक्त करना ही पड़ता है। अतः विपश्यना में सर्व प्रथम आवश्यक है मन का कल्पना मुक्त होना।

विपश्यना के चार अंग :

विपश्यना के चार अंग हैं– [१] काया विपश्यना [२] वेदना विपश्यना [३] चित्त विपश्यना [४] धर्म विपश्यना। काया विपश्यना में शरीर के एक-एक भाग को देखा जाता है साथ ही शरीर से जुड़े हुए रोग, जरा, मृत्यु आदि का भी दर्शन किया जाता है। इससे शरीर से संबंधित स्थूल मोह टूटता है। वेदना विपश्यना में शरीर के ऊपरी भाग त्वचा पर एवं शरीर के भीतर से होने वाली संवेदनाओं का अनुभव किया जाता है। इससे मन का भीतरी तल अवचल मन जाग्रत हो जाता है जिससे घटनाएं प्रत्यक्ष होने लगती हैं। शरीर के प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक परमाणु पर अनेक प्रकार की संवेदनाओं का अनुभव होने लगता है। कहीं पर वे संवेदनाएं सुखद लगती हैं, कहीं दुःखद परंतु साधक के लिए

आवश्यक है कि वह उन संवेदनाओं को न अच्छा माने, न बुरा माने। वह उनसे न द्वेष करे, न राग करे। केवल समभाव से, तटस्थभाव से, निर्लिप्तता से, अनुभव करे। इससे शरीर व मन के भीतरी तल पर स्थित सूक्ष्म ग्रंथियां खुलती हैं तथा समभाव के कारण नवीन ग्रन्थियों का निर्माण भी रुक जाता है। ग्रंथियों के खुलने से शरीर और मन में विद्यमान विकार दूर होते जाते हैं, हम सब प्रकार से स्वस्थ होने लगते हैं। जैसे-जैसे ग्रंथियां खुलती जाती हैं, वैसे-वैसे समता भाव बढ़ता जाता है, प्रगाढ़ होता जाता है और जैसे-जैसे समताभाव प्रगाढ़ व सघन होता जाता वैसे-वैसे स्वस्थता [स्व में स्थिरता] बढती जाती है, निर्विकारता आती जाती है तथा पूर्व संचित ग्रंथियों [कर्म-संस्कारों] का भेदन होता जाता है। साधक निर्ग्रन्थ बनता जाता है। इस प्रकार समता भाव का बढ़ना ग्रंथियों के निवारण में और ग्रंथियों का निवारण समताभाव के बढ़ाने में परस्पर पूरक व सहायक बनते जाते हैं।

यह साधना पद्धति पूर्ण रूपेण क्रिया प्रधान है। इसमें कथनीय नहीं के बराबर है, सब करणीय है। जैसा अंतर संगीत के गाने में और संगीत की पुस्तक पढ़ने में है, वैसा ही अंतर विपश्यना के करने में और उसके बारे में पढ़ने में है। अतः अभ्यास व स्व-संवेदन से ही विपश्यना की विशेषताओं का साक्षात्कार किया जा सकता है, पढ़कर उनका अनुमान लगाना कल्पना की ही वस्तु होगी, यथार्थ नहीं। इस प्रक्रिया के अभ्यास में जिस क्रमिकता, निरंतरता तथा सतत जागरूकता आदि की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति किसी अनुभवी व्यक्ति के मार्गदर्शन द्वारा ही संभव है। इसमें आंतरिक अचिन्त्य शक्तियां जाग्रत हो जाती हैं जिनके नियंत्रण व संयम के अभाव में हानि होने की संभावना रहती है। अतः प्रारंभ में इसे अनुभवी व्यक्ति के निरीक्षण में ही करना अधिक उपयुक्त है। इस पद्धति में मैत्री, प्रमोद, करुणा व मध्यस्थ भावना का भी बड़ा महत्त्व है जो जीवन-विकास के लिए अति उपयोगी है। इसमें क्षमा, सरलता, मृदुता, विनम्रता, समता आदि दैवी गुणों का विकास होता है जिसमें मानव देव बन जाता है।

विपश्यना के लाभ व विशेषताएँ :

[१] यह साधना पद्धति पूर्णतः व्यावहारिक क्रिया पर आधारित है। किसी धारणा या कल्पना का इसमें कोई स्थान नहीं है। अतः कोई भी व्यक्ति इसे करके चित्त की एकाग्रता, निर्मलता, सबलता, समता, स्थितप्रज्ञता, निराकुलता व प्रसन्नता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

[२] इस पद्धति का लक्ष्य अंतर के राग, द्वेष, मोह आदि विकार को दूर करना है। परंतु इन विकारों के दूर होने के साथ ही साथ इन विकारों की देन

शारीरिक और मानसिक विकार [रोग] भी स्वतः दूर होते जाते हैं। वस्तुतः यह हमें समग्र रूप से एक साथ स्वस्थ [निर्विकार] बनाने वाली सरल प्रक्रिया है।

[३] यह पद्धति "कारण के अनुसार ही कार्य होता है" – इस वैज्ञानिक सिद्धांत का पूर्ण अनुसरण करती है। इसमें भगवान, गुरु, देव आदि की चमत्कारिक शक्तिओं का किंचित भी स्थान नहीं है।

[४] यह पद्धति इस तथ्य को पूर्ण स्वीकार करती है कि प्राणी अपने सुख-दुःख का कारण स्वयं ही है और अपने ही पुरुषार्थ से सिद्धि या सफलता प्राप्त कर सकता है। अन्य व्यक्ति का पुरुषार्थ या शक्ति उसे दुःखों से मुक्ति नहीं दिला सकती। अतः यह साधक को पूर्ण स्वावलंबी बनाती है।

[५] यह शील या आचरण प्रधान है। इसमें समाधि, प्रज्ञा की उपलब्धि के लिए भी शील आवश्यक माना गया है। अतः यह शीलवान, सच्चरित्र व्यक्तित्व का निर्माण करती है।

[६] यह पद्धति व्यक्ति को शीलवान बनाती है जिससे सुंदर परिवार, सुंदर समाज व सुंदर राष्ट्र का निर्माण होता है।

[७] इससे साक्षीभाव या द्रष्टाभाव रखने का अभ्यास होता है जिससे अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का भला-बुरा कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, चित्त में खिन्नता व हर्ष का उद्रेक नहीं होता है, हृदय सदा समता, समरस व सरसता से सिक्त रहता है।

[८] विपश्यना से मन, इंद्रिय आदि की सूक्ष्म शक्तियों का विकास होता है, जिससे व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है। फलस्वरूप वह अपने जीवन के व्यावसायिक, सामाजिक पारिवारिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त करता है। कारण कि वह कम समय में अधिक काम ले पाता है तथा बुद्धि तीक्ष्ण व सम हो जाने से निर्णय भी सही लेता है।

[९] विपश्यना के अभ्यास से स्मरण शक्ति व सृजन शक्ति बढ़ती है।

[१०] विपश्यना के अभ्यास से मन जैसे-जैसे लगाव, आसक्ति, तनाव, अंतर्द्वन्द्व से मुक्त होता जाता है, वैसे-वैसे रक्तचाप, हृदयरोग, अपच, अनिद्रा, अस्थमा, उन्माद, अनमनापन, नीरसता, निराशा, रिक्तता, चिंता, हीनभाव, आत्महत्या के भाव आदि शारीरिक व मानसिक रोग दूर होते जाते हैं।

[११] विपश्यना से जीवन में समता-भाव व बंधन-मुक्ति के विलक्षण रस का अनुभव होता है। फिर राग, द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ, मूर्च्छा, भोग-उपभोग, चोरी, जुआ, व्यभिचार, अहंकार, छल-कपट, नशा, स्वार्थपरता, संकीर्णता, कुटिलता, हृदय की कठोरता, आदि का रस या सुख-दुःखरूप प्रतीत होने लगता

है। अतः ये सब दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुराचार, दुष्कृत्य जीवन से छूटते जाते हैं। स्वतः सेवा व त्याग की भावना जगती है जिससे चित्त सदैव शांत, प्रमुदित, आनंदित, प्रेममय रहता है। संकीर्णता के स्थान पर उदारता, द्वेष के स्थान पर प्रेम, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना जागती है।

[१२] विपश्यना अंतर-प्रवेश की प्रक्रिया है। शनैः शनैः अंतर-प्रवेश करता हुआ साधक पूर्णतया आत्मसाक्षात्कार कर लेता है और परम-तत्त्व निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

[१३] विपश्यना से ग्रंथि-विमोचन होता है जिससे जीवन का सर्वांगीण विकास होता है।

[१४] विपश्यना से व्यक्ति जागरूकता व होश में जीने लगता है जिससे उसमें अपने वास्तविक कल्याण का मार्ग क्या है, क्या त्याज्य है, क्या उपादेय है, इसका विवेक जाग्रत हो जाता है।

[१५] विपश्यना के अभ्यासकाल में दिव्य शब्द, अनहदनाद, दिव्य ज्योति, दिव्यगंध, दिव्यरस, दिव्यस्पर्श, दिव्य सूक्ष्म तरंगों से मन व तन का रोमांच व पुलकायमान होना आदि अगणित विलक्षण अतीन्द्रिय अनुभूतियां होती हैं। परंतु इन सबका इस पद्धति में कोई महत्त्व नहीं है। यह इनमें बिना अटके व बिना भटके आगे पूर्ण वीतरागता की ओर बढ़ाने के लिये प्रज्ञावान बनने पर बल देती है और प्रज्ञा की पूर्णता तक पहुँचाने का मार्ग-दर्शन कराती है।

निष्कर्षः

यह पद्धति दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में श्रमण परंपरा में प्रचलित थी। वर्तमान में इसका प्रचार लंका, बर्मा, चीन, जापान, श्याम आदि देशों के बौद्ध धर्मावलंबियों में है। भारत में इसके प्रवर्तक बर्मी नागरिक प्रसिद्ध उद्योगपति, मंगलमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयन्का हैं। आप स्वभाव से सरल सौम्य, निस्पृह, मृदु व क्षमाशील हैं। आप पूजा आडंबर आदि से कोसों दूर हैं तथा आपने अपना जीवन जनकल्याण की भावना से सेवा में समर्पित कर दिया है।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ माघ पूर्णिमा दि. २६-२-७५ अंक ९)

सयाजी ऊ बा खिन : कर्मठ जीवन

– ऊ छि टिन

रंगून के अंतर्राष्ट्रीय साधना केंद्र के संस्थापक सयाजी ऊ बा खिन का जन्म ६ मार्च, सन् १८९९ को हुआ था। उनके पिता थे ऊ पो तथा माता थीं डो सो मे। वे ऊर्ध्व पझुण्डाऊ, रंगून के रहने वाले थे। ८ वर्ष की उम्र तक ऊ बा खिन ने बौद्ध विहारों में ही शिक्षा पायी। इसके बाद रंगून की मैथडिस्ट स्कूल में भर्ती हो गए। वे अत्यंत मेधावी छात्र थे। अतः इस स्कूल की सभी कक्षाओं में सदा प्रथम स्थान पाते रहे। यहां उन्होंने माध्यमिक विद्यालय की छात्रवृत्ति प्राप्त की और तदनंतर सेंटपोल हाई स्कूल में भर्ती हो गए। वहां की उच्च कक्षाओं में भी उन्होंने सदा अपनी अद्भुत प्रतिभा का ही प्रदर्शन किया। सन् १९१७ में उन्होंने मैट्रिक पास की और कालेज की शिक्षा के लिए भी छात्रवृत्ति उपलब्ध की [पर उसका लाभ न ले सके] उस वर्ष मैट्रिक की परीक्षा में उस विद्यालय के सभी विद्यार्थियों में सर्वश्रेष्ठ साबित हुए और परिणामतः 'सेवण' स्वर्णपदक जीता।

मैट्रिक की शिक्षा के बाद वे कुछ दिनों तक 'सूर्य' नामक बरमी दैनिक पत्र में काम करने लगे और फिर अकाउंटेन्ट जनरल के सरकारी कार्यालय में एक साधारण क्लर्क की नौकरी लगी। १९२६ में वे इसी कार्यालय में आफिस सुपरिंटेंडेंट और फिर ऑडीटर जनरल के कार्यालय में स्पेशल सुपरिंटेंडेंट के पद तक पहुँच गए। १९४१ में बर्मा रेल्वे बोर्ड में अकाउंट आफिसर के पद पर नियुक्त हुए। युद्ध के अनंतर असिस्टेंट-अकाउंटेंट-जनरल के पद पर और फिर डेप्युटी-अकाउंटेंट-जनरल के पद पर आसीन हुए। ४ जनवरी, १९४८ को बर्मी स्वतंत्रता पर उन्हें बर्मा के अकाउंटेंट-जनरल का पद मिला।

१९५५ में उन्होंने अवकाश प्राप्त किया, परंतु सरकार ने उन्हें ऑडिटर जनरल की ऑफिस में और साथ ही साथ वाणिज्य मंत्रालय में विशिष्ट अधिकारी के पद पर पुनः नियुक्त कर दिया और अक्टूबर १९६६ तक यह नियुक्ति कायम रही। इस पुनर्नियुक्ति की अवधि के दौरान ऊ बा खिन भिन्न-भिन्न दायित्व निभाते रहे। वाणिज्य विभाग के विशिष्ट अधिकारी के अतिरिक्त, स्टेट एग्रीकल्चर मार्केटिंग बोर्ड के अध्यक्ष, गवर्नमेंट इंस्टीट्यूट ऑफ अकाउंट एण्ड ऑडिट के प्रिन्सिपल, कामर्सियल ऑडिट विभाग के डायरेक्टर के पद पर काम करते रहे। कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार विभागों की जिम्मेदारी एक साथ संभालते रहे और आश्चर्यजनक कौशल्य शक्ति के साथ उन सबको निभाते रहे। वे अपनी इस अपरिमित ऊर्जा का स्रोत विपश्यना साधना को ही मानते थे जिसका कि अभ्यास

वे स्वयं भी करते थे और अनेक लोगों को भी करवाते थे। उनके शिष्यों में बर्मा के अतिरिक्त विदेशों के भी अनेक प्रसिद्ध विद्वान, वैज्ञानिक, कूटनीतिज्ञ आदि थे। यद्यपि वे एक साथ चार-चार विभागों का दायित्व संभाले हुए थे, तथापि उन्होंने कभी अपनी दैनिक साधना के अभ्यास में अथवा लोगों को सिखाने में जरा सी भी शिथिलता नहीं आने दी। १९ जनवरी, १९७१ के दिन उन्होंने अपना शरीर छोड़ा और जीवन के अंतिम दिनों तक वे लोगों को विपश्यना साधना सिखाते ही रहे।

उनके बाद उनके जीवन का काम उनके प्रिय शिष्य पूरा कर रहे हैं जिनमें से प्रमुख हैं श्री सत्यनारायण गोयन्का, जिन्होंने १९६९ से अब तक भारत में अनेक शिविर संचालित कर हजारों लोगों को विपश्यना में प्रशिक्षित किया है। दूसरे हैं ला मिराडा, कैलीफोर्निया, संयुक्त राज्य अमेरिका के मि० राबर्ट हूबर और तीसरे हैं इंगलैंड के जान कोलमैन जो अपने-अपने देशों में विपश्यना के सत्र चला रहे हैं।

सयाजी का जीवन उद्देश्य सफल हो! दुःख संतप्त मानव वास्तविक सुख-शांति पाये!

---o---

सयाजी ऊ बा खिनः एक पावन स्मृति

– भिक्षु डॉ. ऊ धर्म रत्न

१९ जनवरी, १९७१ के दिन सयाजी ऊ बा खिन ने अपना भौतिक शरीर छोड़ा। वे बिना किसी दिखावे के शुद्ध, सात्त्विक, धर्ममय जीवन जीते रहे और जीवन भर मूक भाव से सद्धर्म की सेवा करते रहे।

बौद्ध जीवन पद्धति में ध्यान साधना का पूर्ण स्थान रहा है। किंतु किन्हीं अज्ञात कारणों से इतिहास में ऐसा समय आया जबकि इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर ध्यान साधना की परंपरा जन साधारण के लिए सर्वथा विलुप्त हो गई। पिछले कुछ वर्षों से इसका पुनरुद्धार आरंभ हुआ और इसकी पहल ब्रह्मदेश से हुई। अन्य देशों ने इसका अनुकरण करना शुरू किया है। बर्मा के साधना केंद्रों ने सारे विश्व को अपनी ओर आकर्षित किया है। (सन् १९५६ में रंगून में) छठी बौद्ध संगीति का ऐतिहासिक आयोजन इस क्षेत्र में एक अत्यंत प्रभावशाली कदम रहा। सयाजी ऊ बा खिन ने इस दिशा में अत्यंत योगदान दिया।

एक बात यह जान लेनी आवश्यक है कि किसी न किसी कारण से लोगों में एक बहुत गलतफहमी फैल चुकी थी कि ध्यान साधना केवल भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए ही है सामान्य गृहस्थ तो मात्र शील पालन अथवा दान आदि

पुण्य कर्मों के संपादन से ही संतुष्ट रहें। इस भ्रांति के विरुद्ध परंपरागत इतिहास की सच्चाई यह है कि अष्टांगिक आर्य मार्ग बिना किसी भेदभाव के समान रूप से सब के लिए उपयोगी रहा है। इस मार्ग पर जो भी आरूढ़ होता है वह लाभान्वित होता ही है।

सतिपट्ठान सूत्र की अट्ठकथा (भाष्य) से यह स्पष्ट है कि उन दिनों कुरु प्रदेश के लोगों में साधना इस कदर प्रचलित हो चली थी कि जहां कहीं भी जनसमुदाय एकत्र होता था लोग एक-दूसरे की साधनाजन्य अनुभूतियों के विषय पर ही पारस्परिक चर्चा करते थे। जन साधारण इस साधना से प्रत्यक्ष लाभान्वित होते थे।

प्रत्यक्ष लाभ की भूमिका पर ही भगवान बुद्ध ने धर्म के अभ्यास का प्रशिक्षण दिया था। अकुशल कर्मों से विरत रहने का शिक्षण इसी आधार पर दिया और कुशल कर्मों का संपादन भी इसलिए कि हम उनका यहीं प्रत्यक्ष लाभ ले सकते हैं। बार-बार उन्होने अपने धर्म-उपदेशों में धर्मपालन के इसी सद्यः फलदायी पक्ष पर अधिक बल दिया था। महापरिनिर्वाण सूत्र में एक सौम्य प्रसंग आता है। भगवान अपने जीवन की अंतिम यात्रा कर रहे हैं। आने वाले महापरिनिर्वाण को ध्यान में रखते हुए स्थान-स्थान पर अपनी शिष्य मंडली से मिल रहे हैं और अंतिम उपदेश दे रहे हैं। पाटलिपुत्र के उपासकों को धर्म-देशना देते हुए भगवान समझाते हैं कि किस प्रकार शील सदाचार से संपन्न व्यक्ति अप्रमत्त रहकर सुख, शांति, समृद्धि और प्रतिष्ठा का जीवन जीता है। यदि वही व्यक्ति समाधि संपन्न भी हो और प्रज्ञा संपन्न भी हो तो सभी क्षेत्रों में और अधिक लाभान्वित होता है। सद्धर्म की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि वह लौकिक और लोकोत्तर दोनों क्षेत्रों में लाभान्वित होता है। यह सत्य है कि शुद्ध धर्म का अभ्यास अकालिक है, सांदृष्टिक है, यहीं लाभ देने वाला है। अभ्यास के कदम-कदम पर लाभ देने वाला है। सारे रास्ते लाभ ही मिलने वाला है।

यह सयाजी ऊ बा खिन की विशेषता थी कि उन्होंने आज के युग में भी यह सच्चाई सिद्ध कर दिखाई कि विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा शुद्ध धर्म को धारण करने वाला प्रत्येक साधक यहीं सर्वतोसुखी उन्नति करता है। धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक और मानसिक उन्नति भी उपलब्ध होती है। ऊ बा खिन एक असाधारण व्यावहारिक व्यक्ति थे। उन्होंने अपना जीवन अत्यंत निम्न स्तर से एक सामान्य सरकारी कारकून (क्लर्क) की हैसियत से आरंभ किया और अपने पुरुषार्थ, परिश्रम, लगन, और निष्ठा के बल पर इस विभाग के अध्यक्ष पद तक पहुँचे। उन्होंने एक कुशल मार्गदर्शन के आधीन

विपश्यना साधना का अभ्यास आरंभ किया। उन्होंने देखा कि इस अभ्यास द्वारा उनके जीवन में सर्वत्र सर्वांगीण उन्नति हो रही है। कार्यालय में, घर में, समाज में भी। उन्होंने चाहा कि ऐसी उन्नति सबकी हो। हर शुभ कार्य पहले अपने घर से ही आरंभ किया जाता है। ऊ बा खिन उस समय बर्मा के अकाउंटेंट जनरल (महालेखापाल) थे। अपने कार्यालय में ही एक कक्ष उन्होंने साधना के प्रशिक्षण के लिए नियत किया और अपने साथियों को साधना सिखानी आरंभ की। कुछ समय के पश्चात साधकों में प्रत्यक्ष परिवर्तन आने लगे। कार्यकौशल्य, सत्यनिष्ठा और आंतरिक सुख के क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति प्रकट होने लगी। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में सर्वांगीण प्रगति।

५५ वर्ष की अवस्था में सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त कर लेने पर भी, सरकार ने उन्हें पुनः सरकारी सेवा में पदस्थ किया और एक बार तो एक साथ चार-चार विभागों के अध्यक्ष पद सौंपे। उन्होंने इन सभी भारी भारी जिम्मेदारियों को बिना शिकवा-शिकायत के सहर्ष स्वीकार किया और लोक मंगल के भावों से भर कर उनका निर्वाह किया। इन दायित्वों के निर्वाह के लिए उन्होने पर्याप्त धर्मबल संचित कर लिया था। वस्तुतः इन जिम्मेदारियों ने उन्हें ऐसा सुअवसर प्रदान किया जिससे कि वे अपने देशवासियों की समुचित सेवा कर सके, और सामान्य सांसारिक लोगों के जीवन में शुद्ध धर्म की ज्योति जगा सके। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह विदित है कि उस समय सारा शासन-तंत्र लोभ के दूषण से दूषित होकर भ्रष्ट और जर्जरित हो चुका था और उसके सुधार के लिए अत्यंत उपयुक्त व्यक्ति ही चुना गया था। उन्होने राजकीय विभागों का दक्षतापूर्वक संचालन आरंभ किया और अनेक विभागों में स्वच्छता, कार्यकुशलता, सफलता और सद्भावना का वातावरण पैदा किया। लगा जैसे धर्म की चेतना उर्मिल हो उठी हो।

सरकारी सेवा से पूर्ण अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद सयाजी ऊ बा खिन ने अपना शेष जीवन अपने साधना केन्द्र में विपश्यना साधना के अभ्यास और प्रशिक्षण में ही बिताया। उनके शिष्य और प्रशंसकों से सुनकर यही ज्ञात होता है कि वे एक विद्युत उत्पादक यंत्र की भांति काम करते थे। पूर्व और पश्चिम के अनेक लोग उनके पास मार्गदर्शन के लिए आते थे। स्वानुभूतियों के आधार पर दिया गया उनका मार्गदर्शन बहुत प्रभावशाली साबित होता था। भीतर ही भीतर साधक ऐसे कायाकल्प और चेतोकल्प में से गुजरता जिससे कि उसकी अनेक शारीरिक और मानसिक व्याधियां स्वतः दूर हो जातीं। इस प्रकार उन्होंने अनेकों के जीवन को नई रोशनी दी। अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे इसी करुणाभाव से धर्मसेवा में संलग्न रहे। उनके कुछ एक शिष्यों के कथनानुसार

लगता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था। अतः शिष्यों को आवश्यक आदेश-निर्देश देकर उन्होने १९ जनवरी, १९७१ को शरीर त्याग दिया।

हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि उनकी मृत्यु के कारण उनके मिशन की गति अवरुद्ध नहीं हो पायी। उन्होंने यह धर्म ज्योति जलाए रखने के लिए कुछ एक योग्य शिष्य प्रशिक्षित कर लिए थे। उनमें से बर्मा के श्री सत्यनारायण गोयन्का उल्लेखनीय हैं। १९६९ में भारत आने के पश्चात भारत के भिन्न-भिन्न भागों में वे निरंतर साधना के सत्र लगा रहे हैं। इन साधना शिविरों में अनेक साधक, भारतीय और विदेशी, सद्गृहस्थ नर और नारियां, साधु और साध्वियां जैन मुनि और ईसाई पादरी आदि लाभान्वित हो रहे हैं। कोई भी व्यक्ति जो ऐसे किसी शिविर में भाग लेता है वह देखता है कि श्री गोयन्काजी जिस प्रज्ञापूर्ण मुदित भाव से इन शिविरों का संचालन करते हैं उससे स्पष्ट होता है कि जैसे धर्म सजीव हो उठा है।

सयाजी ऊ बा खिन के ये शिष्य बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय विपश्यना साधना के शुद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करें। सयाजी ऊ बा खिन का जीवन आदर्श अनेकों को धर्ममय जीवन जीने के लिए प्रेरित करे! सयाजी ऊ बा खिन अपनी समस्त पारिमिताएं परिपूर्णकर निर्वाण को प्राप्त हों!

'महाबोधि मासिक से आभार'

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१८ फाल्गुन / चैत्र पूर्णिमा दि.२५-४-७५ अंक १० / ११)

दान - चेतना

कैसा दान सार्थक होता है?

जिसे देकर मन निर्मल हो।

क्या दान देकर मन मैला भी हो सकता है?

अवश्य! विवेक साथ न हो तो दानी का मन मैला हो ही जाता है। अविवेकी का दान उसके बंधन का कारण बनता है, वैसे ही जैसे कि अविवेकी की श्रद्धा, जैसे कि अविवेकी का प्रेम।

विवेक न हो तो दान देने की शुद्ध धर्म चेतना जाग ही नहीं सकती। ऐसा व्यक्ति दान दे भी तो दुर्मन से देता है। उसका मन अहंकार से, चिड़चिड़ाहट से, घृणा से, ईर्ष्या से, लोभ से अथवा भय से भरा होता है। ऐसा दान अच्छा फल कैसे दे सकता है भला? दुर्मन का फल तो दुःखद ही होगा, सुखद नहीं। विवेक हो तो दान को निष्काम बनाए रखेगा। सकाम भक्ति और सकाम प्रेम की तरह उसे सकाम बनाकर कलुषित नहीं होने देगा। उसकी पवित्रता नष्ट नहीं होने देगा। यदि दान का उद्देश्य यश हो, कीर्ति हो, कोई लौकिक प्रतिफल हो, किसी देवलोक की कामना हो तो ऐसा राग-रंजित दान बांधने वाला ही होता है। परंतु अपने इस कुशल कर्म को त्याग और अपरिग्रह का रूप देकर आस्रव-क्षय का हेतु बना लेगा तो बांधनेवाला कदापि नहीं होगा।

इदं मे पुञ्ञकम्मं आसवक्खयावहं होतु,
अथवा
इदं में पुञ्ञकम्मं निब्बाणस्स पच्चयो होतु।

विवेकवान के लिए दान का पुण्य-कर्म आस्रव-क्षय और निर्वाण का प्रत्यय ही होता है क्योंकि वह अपरिग्रह के लिए होता है, बोझ हल्का करने के लिए होता है, बोझ बांधने के लिए नहीं। हां, यह ठीक है कि शुद्ध अपरिग्रह बुद्धि से दिया हुआ दान लोकोत्तर निर्वाण की ओर ले जाने वाला होने के साथ-साथ लोकीय लाभ भी पहुँचाता ही है। वैसे ही जैसे धान की खेती करें तो चावल के साथ-साथ चारे के लिए भूसा और डंठल भी प्राप्त होते ही हैं। चीनी की फैक्ट्री चलाएं तो चीनी के साथ-साथ मोलासिस [राब] पैदा होता ही है। इसी प्रकार शुद्ध दान भी समस्त मानवी और दैवी संपत्तियां देते हुए ही नैर्वाणिक संपत्ति उपलब्ध करवाता है।

मानुस्सिका च सम्पत्ति देवलोके च या रति,
या च निब्बाणसम्पत्ति सब्बमेतेन लब्भति।

निरभिमान मन से, मैत्री-करुणायुक्त चित्त से और अपरिग्रह बुद्धि से दिया गया दान निर्वाणगामी उत्तर धर्मों के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करता है। शुद्ध दान के दोनों लाभ हैं – लोकीय भी और लोकोत्तर भी। विवेकशील दानी अपने दान के इन दोनों पक्षों को भलीभांति समझता है।

दान देने के पूर्व वह प्रज्ञापूर्वक सोचता है, समझता है कि मुझे दान देना क्यों आवश्यक है? और भली-भांति सोच-समझकर दान देता है तो स्वच्छ-सुमन चित्त से ही दान देता है। सुमन का फल स्वतः सुखद ही होता है – लोकीय भी, लोकोत्तर भी।

विवेकशील व्यक्ति जब अपने चारों ओर अभावग्रस्त प्राणियों को देखता है तो जो कुछ पास हो, उसका कुछ हिस्सा उन प्राणियों को बांटकर ही शेष का उपभोग करता है। प्राणियों में भी यदि मनुष्य अभावग्रस्त हो तो उसकी आवश्यकता पूरी कर अपने को अधिक धन्य मानता है। वह इस सच्चाई को समझता है कि अपने पास जो कुछ है उसे अकेले ही उपभोग करना धर्म-नीति के विरुद्ध आचरण है। यदि अपने पास कम है तो भी उसमें का भले थोड़ा सा ही हिस्सा सही, अन्य किसी को देकर शेष को ही ग्रहण करना धर्म है और जब अपने पास आवश्कता से अधिक हो तब तो बिना बांटे स्वयं ही उसका उपभोग करना घोर पाप है। ऐसे उपभोग में अपना ही अमंगल है, पराभव है, पतन है।

पहूतवित्तो पुरिसो, सहिरञ्ञो सभोजनो।

एको भुञ्जति सादूनि, तं पराभवतो मुखं॥

जिसके पास प्रभूत मात्रा में धन-संपत्ति हो, हिरण्य-सुवर्ण हो, भोज्य-पदार्थ हो और वह अकेला ही उनका उपभोग करे तो यह अवस्था उसके पतन का कारण बनती है।

विवेकशील व्यक्ति इस बुराई से बचता है, इस पतन से बचता है।

विवेकशील व्यक्ति भलीभांति समझता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समूह में रहने वाला प्राणी है। अतः मुझे औरों के साथ रहना होगा। मैं औरों से तो अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएं प्राप्त करता रहता हूं, परंतु बदले में औरों की सुख-सुविधा के लिए अपना दायित्व निभाता हूं या नहीं? यदि मेरे पास कुछ है और आवश्यकता से अधिक है तो उसे औरों को बांटकर ही अपना दायित्व निभा पाऊंगा। ऐसा समझकर ही वह जिस सामाजिक व्यवस्था में रहता है उस व्यवस्था की पुरातन धर्म-परंपरा को निभाता है। इस सामाजिक व्यवस्था में आर्थिक विषमता होनी स्वाभाविक है। यह विषमता इस व्यवस्था का अनिवार्य दूषण है। समझदारी यही है कि इस सामाजिक व्यवस्था के रहते इस दूषण को जितना दूर

किया जा सके, करते रहें। इसीलिए पुरातनकाल में यज्ञों का विधान था। हर व्यक्ति यज्ञ करता था,। यानी त्याग करता था, बलिदान करता था। औरों को बांटता और तदंतर ही स्वयं उपभोग करता था। अनावश्यक परिग्रह से बचते हुए किसी अन्य की वस्तु पर लोभ की दृष्टि नहीं रखता था। परंतु धीरे-धीरे लोगों का विवेक मंद पड़ा। स्वेच्छा से प्रज्ञापूर्वक अपने पास आवश्यकता से अधिक आई हुई संपदा को औरों के लिए यजन कर देने वाली प्रज्ञा क्षीण पड़ने लगी तो दान की यह प्रथा मंद पड़ने लगी। इसे पुनर्जीवित करने के लिए ही कुछ समाज-नेताओं ने इस पर देवभक्ति का रंग-रोगन चढ़ाया होगा। देवी-देवता को प्रसन्न-संतुष्ट करने के लिए यजन करो, त्याग करो। जिसके पास जो कुछ संचित हो गया है, उसका बलिदान करो। देवताओं के नाम पर बलि चढ़ाओ, दान दो। और देवी-देवताओं के नाम पर जो कुछ त्याग किया जाता वह प्रजा में यानी समाज में ही बंट जाता था। इस प्रकार सम-विभाग की यह कल्याणकारी प्रथा दैवी यज्ञों के नाम पर चल पड़ी होगी। पशुपालन और कृषिप्रधान समाज में जिसके पास अधिक संख्या में पशु एकत्र हो जाते थे और अन्न-घृत एकत्र हो जाता था, वह विवेकपूर्वक उनका यजन करके अपना पशुधन व अन्न-धन समाज के अन्य लोगों में बांट देता था। जब यही यजन का काम देवताओं के नाम पर होने लगा तो यजमान इन्हें देवता को बलिदान करता था यानी अर्पित करता था, पर अन्ततः वह बँट जाता था समाज के लोगों में ही, जिससे कि सामाजिक विषमता बढ़ने नहीं पाती थी। समय-समय पर इस प्रथा में विभिन्न विकृतियां आयी, दूषण आये और समय-समय पर पुनः सुधार भी होते गये। दानी ने जब-जब अपना विवेक खोया, तब-तब मन की निर्मलता खोयी और दान का पवित्र उद्देश्य नष्ट कर दिया। जब-जब उसका विवेक जागा, तब-तब उसने दान को सार्थक बनाया, सुफलदायी बनाया।

विवेकशील व्यक्ति यह समझता है दान अपरिग्रह के लिए है। किसी एक के पास अधिक जमा हो जाय तो बाकियों को उसका अभाव भुगतना ही पड़ता है। अतः समय-समय पर अपरिग्रह बुद्धि से, कर्तव्य बुद्धि से और बिना अहंकार के अपने पास संचित संपदा को औरों में बांटते रहना चाहिए ताकि समाज में विषमता न बढ़े और परिणामतः विग्रह-विद्वेष न बढ़े। दान द्वारा भारग्रस्त व्यक्ति भारमुक्त होता है और अभावग्रस्त अभावमुक्त।

दान जरूरतमंद को ही दिया जाना चाहिए। परंतु जरूरतमंदों में भी दान के लिए योग्य पात्र चुना जाता है। विवेकशील व्यक्ति जानता है कि जैसे उपजाऊ खेत में बोया हुआ बीज महाफलदायी होता है। वैसे ही उर्वरा क्षेत्र में बोया हुआ दान का बीज भी महाफलदायी होता है। वह जानता है कि जो खेत असम हो,

जिसमें बहुत तृण उगे हों, झाड़-झंखाड़ उगे हों, जिसमें बहुत कंकड़-पत्थर हों, जिसमें जुताई नहीं हुई हो, जो बहुत चट्टानी हो जिसमें पानी आने का रास्ता न हो, जिसमें से पानी बाहर निकलने का रास्ता न हो, जिसमें न नाली हो, न मेड़ हो, ऐसे ऊसर खेत में बोया हुआ बीज महाफलदायी नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की वाणी शुद्ध न हो, जिसके शारीरिक कर्म शुद्ध न हों, जिसकी आजीविका शुद्ध न हो, जिसके प्रयत्न-प्रयास शुद्ध न हों, जिसकी स्मृति शुद्ध न हो, जिसकी समाधि शुद्ध न हो, जिसका चिंतन-मनन शुद्ध न हो, जिसकी दर्शन-दृष्टि शुद्ध न हो, ऐसे दुर्जन, दुःशील, दुराचारी, दुःसमाधिस्थ और दुष्प्रज्ञ व्यक्ति को दिया हुआ दान महाफलदायी नहीं हो सकता। जो खेत समतल हो, झाड़-झखाड़-तृण विहीन हो, कंकड़-पत्थर विहीन हो, जो चट्टानी नहीं हो, जिसमें गहरी जुताई हुई हो, जिसमें पानी लाने का रास्ता हो, जिसमें से पानी निकालने का रास्ता हो, जिसमें आवश्यक नाली हो, मेड़ें हों, वैसे उपजाऊ खेत में बोया हुआ बीज सचमुच महाफलदायी होता है। ठीक इसी प्रकार जिस व्यक्ति की वाणी शुद्ध हो, शारीरिक कर्म शुद्ध हों, आजीविका शुद्ध हो, प्रयत्न-प्रयास शुद्ध हों, स्मृति शुद्ध हो, समाधि शुद्ध हो, चिंतन-मनन शुद्ध हो, दर्शन-दृष्टि शुद्ध हो, ऐसे सज्जन, सुशील, सदाचारी, सुसमाहित चित्त, सप्रज्ञ व्यक्ति को दिया हुआ दान सचमुच महाफलदायी होता है। ऐसा व्यक्ति चाहे जिस जाति, कुल, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय का हो, परंतु वह हर माने में श्रमण ही है, ब्राह्मण ही है, पवित्र ही है, पावन ही है। ऐसा व्यक्ति धर्म-पथ का पथिक है। अतः दान का बीज बोने के लिए सचमुच उपजाऊ पुण्य-क्षेत्र है। ऐसा धर्म-पथिक जब चित्त-विशुद्धि की प्रथम अवस्था को प्राप्त कर मुक्ति के स्रोत में पड़ जाय यानी स्रोतापन्न हो जाय तो और उपजाऊ हो जाता है, महत्तर पुण्य-क्षेत्र हो जाता है। यही व्यक्ति आगे बढ़ता हुआ अपने अंतर के सूक्ष्म बंधनों से मुक्ति पाता हुआ सगदागामी हो जाय, अनागामी हो जाय तो और अधिक उपजाऊ हो जाता है। यही व्यक्ति जब अर्हत हो जाय, स्थितप्रज्ञ होकर जीवन मुक्त हो जाय, सारी ग्रंथियों से पूर्णतया छुटकारा पाकर निर्ग्रंथ हो जाय, सभी विकारों को जीतकर जिन हो जाय, अनुत्तर सम्यक संबोधि प्राप्तकर सम्यक संबुद्ध हो जाय तो पवित्रता उच्चतम अवस्था पर पहुँच जाता है। अतः महत्तम उर्वरा पुण्यक्षेत्र बन जाता है।

विवेकशील दानी इस बात को समझता है कि धर्मवान व्यक्ति मानव समाज की अनमोल निधि है। धर्मवान व्यक्ति स्वयं तो सुख-शांति का जीवन जीता ही है, औरों की सुख-शांति का भी कारण बनता है, औरों को भी धर्मवान बनने के लिए प्रेरित करता है, मार्गदर्शन देता है। इसलिए जो जितना-जितना धर्मवान है, वह समाज के लिए उतना-उतना ही उपयोगी है, कल्याणकारी है अतः उतना-उतना

ही अधिक पूजन-वंदन योग्य है, आदर-सत्कार योग्य है, दान-दक्षिणा योग्य है। जिस समाज में शील-गुण-संपन्न धार्मिक व्यक्तियों की अवहेलना व अवमानना होने लगे और शील-गुण-विहीन व्यक्तियों का जाति, कुल, गोत्र, धन, सत्ता आदि के नाम पर मान-सम्मान होने लगे, उस समाज में धर्म का अवमूल्यन होने लगता है। परिणामतः वह समाज धर्म-विमुख होने लगता है, उस समाज में न्याय-नैतिकता का ह्रास होने लगता है। उस समाज के लोग मिथ्याभिमान के शिकार होने लगते हैं और अपने पतन के स्वयं कारण बनने लगते हैं।

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।
सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥

जो व्यक्ति जन्म-जाति का, धन-संपदा का, कुल-गोत्र का अभिमान करता हुआ अपने समाज के अन्य बंधुओं का निरादर करने लगता है तो यह अवस्था उसके पतन का कारण बनने लगती है।

विवेकवान व्यक्ति समझता है कि वह जब किसी धर्मनिष्ठ व्यक्ति को दान देता है तो उसका मन श्रद्धाभाव से, दाक्षिण्यभाव से भर उठता है और ऐसी अवस्था में वह यही महसूस करता है कि इस धर्मनिष्ठ व्यक्ति ने मेरा दान स्वीकार कर मुझपर अनुग्रह ही किया है। दूसरी ओर जब वह किसी धर्म-विहीन व्यक्ति को दान देता है तब अपने मिथ्या अहं का पोषण करता हुआ यही महसूस करता है कि दान देकर मैं इस व्यक्ति पर अनुग्रह कर रहा हूं। धर्महीन व्यक्ति की अपेक्षा धर्मनिष्ठ व्यक्ति को दान देते हुए चित्त की चेतना अधिक निर्मल रहती है और इसीलिए अधिक फलदायी होती है।

विवेकवान व्यक्ति यह भी समझता है कि व्यक्ति से समाज बड़ा है। व्यष्टि से समष्टि महान है। अतः किसी एक व्यक्ति विशेष की दान-सेवा की तुलना में सार्वजनीन दान सेवा और अधिक फलदायी होती है। एक व्यक्ति चाहे वह परम ज्ञानी सम्यक संबुद्ध ही क्यों न हो, उसके मुकाबले व्यक्तियों के समूह को यानी संघ को दिया गया दान अधिक फलदायी होता है। और संघ भी यदि धर्म-विहारियों का संघ हो, संतों का संघ हो, साधकों का संघ हो तो कहना ही क्या! दान का बीज बोने के लिए उससे अच्छा कोई क्षेत्र होता ही नहीं। वह अनुत्तर पुण्य क्षेत्र होता है।

विवेकशील व्यक्ति इस बात को बखूबी समझता है कि कालिक दान यानी अवसर पर दिया गया दान कल्याणकारी होता है। जैसे कि दुष्काल के समय, अग्निकांड के समय, बाढ़ के समय, महामारी के समय पीड़ितों को दिया गया दान। भूखे को भोजन का दान, नंगे को बस्त्र का दान, रोगी को औषधि का दान,

बेघरबार को घरबार का दान फलदायी दान है। परंतु इन सामयिक दानों से, कालिक दानों से भी अधिक उत्तम अकालिक दान है, सार्वकालिक दान है और वह है धर्मदान जो कि सर्वदा सर्वहितकारी दान है। **धम्मदानं सब्ब दानं जिनाति।** धर्म का दान सर्वोपरि दान है।

किसी को धर्म का दान देने का अर्थ यह नहीं कि उसे किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित कर लिया जाय। सार्वकालिक, सार्वदेशिक धर्म सदा सार्वजनीन ही होता है। वह किसी संप्रदाय के क्षुद्र दायरे में बांधा नहीं जा सकता। अतः धर्म का दान किसी संप्रदाय में लपेटने के लिए नहीं, बल्कि संप्रदाय के घेरे से ऊंचा उठाकर शील, समाधि और प्रज्ञा में स्थापित करने के लिए होता है। लोगों को जाति, कुल, गोत्र, धन, सत्ता आदि के संकुचित दायरों से बाहर निकाल कर शुद्ध धर्म की महत्ता के क्षेत्र में स्थापित करने के लिए होता है। समाज में शील, समाधि और प्रज्ञा को प्रतिष्ठापित करने के लिए होता है। कोई व्यक्ति शीलवान न हो तो उसे शील में स्थापित करने में, कोई शीलवान हो पर समाधिवान न हो तो उसे समाधि में स्थापित करने में; कोई शीलवान हो, समाधिवान हो पर प्रज्ञवान न हो तो उसे प्रज्ञा में स्थापित करने में; उसे विमुक्ति रस का रसास्वादन करवाने में, निर्वाण का साक्षात्कार करवाने में सहायक होना ही सही माने में धर्मदान है, जो कि सब के लिए समान रूप से सर्वदा कल्याणकारी है।

धर्मदान का प्रारंभ पुस्तकों द्वारा या प्रवचनों द्वारा धर्म का संदेश लोगों तक पहुंचाना होता है। ताकि इससे उनमें धर्म के प्रति आकर्षण जागे, धर्म धारण करने के लिए प्रेरणा जागे और उससे मार्गदर्शन मिले। श्रुत धर्म का, परियत्ति धर्म का यह दान लाभदायक होता है। पर इससे भी उन्नत और विशुद्ध धर्मदान तो धर्म-धारण करने का अभ्यास करवाना है। इससे जन-जन का वास्तविक और स्थायी लाभ होता है। यह दान जब किसी एक व्यक्ति व एक वर्ग के लिए न होकर सार्वजनीन हो तो सर्वोत्तम फलदायी होता है।

धर्मदान में तन, मन, धन से सहयोगी होना, धर्मदान में भागीदार बनना है। विवेकवान व्यक्ति जानता है कि यदि मैं धर्म सिखा सकने की क्षमता नहीं रखता तो धर्म प्रशिक्षण के काम में सहयोगी बनकर ही सेवालाभ ले सकता हूं, अपना धर्मदान संपन्न कर सकता हूं। यह समझकर ही वह धर्मदान में सहयोगी बनता है। धर्म सीखने वालों के लिए भोजन निवास तथा अन्य आवश्यक सुविधाएं प्राप्त करवाने में योगदान देता हुआ शुद्ध धर्मदान में सहभागी बनता है साधकों के लिए भोजन का दान, ध्यान-कुटी का दान, धर्मदान ही है।

परंतु विवेकवान व्यक्ति साथ-साथ यह भी समझता है कि सभी दानों से भी कहीं अधिक फलदायी है– स्वयं धर्म में स्थित होना, स्वयं शील, समाधि और प्रज्ञा में स्थापित होना, स्वयं अध्यात्म की ओर अग्रसर होना। कहीं दान को ही सब कुछ मानकर अध्यात्म की अगली मंजिलें हासिल करने में अपने लिए दीवारें न खड़ी कर ले। दान धर्म का पहला कदम है, आवश्यक कदम है, पर अंतिम कदम नहीं ही है। यह ठीक है कि यदि इस पहले कदम में ही कमजोरी रहेगी तो अगले कदम मजबूत नहीं हो सकेंगे। यह समझकर समझदार आदमी, जिसे धर्म-पथ पर चलना है, जिसे धर्म का सुख-शांतिमय जीवन जीना है, जिसे धर्म की अंतिम मंजिल तक पहुँचना है, वह दान को अपने जीवन का आवश्यक अंग बनाता हैं, अनिवार्य अंग बनाता है और साथ ही साथ शील, समाधि, प्रज्ञा में उत्तरोत्तर पुष्ट हुए जाता है।

दान को जीवन का आवश्यक अंग बनाने के लिए प्रत्येक विपश्यी गृही साधक को चाहिए कि वह अपनी आय में से अपनी सुविधा के अनुसार, अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार हर रोज अथवा हर वर्ष कुछ न कुछ हिस्सा शुद्ध दान के लिए अवश्य निकाले। जिसकी आय कम है वह कम निकाल कर जरा भी हीन भाव का अनुभव न करे। चित्त की शुद्ध दान-चेतना ही फलदायी होती है, दान का परिमाण नहीं। जो समर्थ हैं वे अपनी दान-चेतना को संकुचित कर उसे कलुषित न कर लें। उदारचित्त से परंतु साथ ही साथ दंभहीन चित्त से दान देना सीखें। दान कहा दें? वहीं जहां के प्रति अपनी धर्मप्रज्ञा उत्साहित करे। जहां के लिए मन में दान-चेतना जागे, पर दें अवश्य। जो गृहत्यागी हैं वे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय शुद्ध निरामिष धर्मदान दे सकने की क्षमता प्राप्त करने में अग्रसर होते रहें और जो क्षमतावान हैं वे शुद्ध धर्मदान देते रहें।

शुद्ध सात्त्विक दान साधक के चित्त का आभूषण है, चित्त का अलंकरण है, चित्त का हल्कापन है। दान-चेतना जाग्रत रख कर अपने चित्त को धर्म-विभूषित करें, उसे मंगलमार्गी बनाएं।

(वर्ष ४ बुद्धवर्ष २५१९ वैशाख पूर्णिमा दि. २५-५-७५ अंक १२)

उद्‌बोधन : विपश्यना क्या है?

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

आओ, विपश्यना को समझें! भली-भांति समझे बिना सही माने में विपश्यी नहीं बन पायेंगे।

विपश्यना क्या है?

विपश्यना कोई जादू नहीं है जो कि हमारे सिर पर चढ़कर बोलने लगे। विपश्यना कोई सम्मोहिनी विद्या नहीं है जिससे कि हम किसी अन्य के द्वारा सम्मोहित होकर अपनी नाक में नकेल लगवा लें अथवा आत्म सम्मोहित होकर अपनी सुध-बुध ही खो बैठें। विपश्यना कोई मंत्र विद्या नहीं है जो कि हमें सांप-बिच्छू या भूत-प्रेत की तरह मंत्राए रख सके। विपश्यना कोई अंधभक्ति या अंधभावावेश नहीं है जिसके कि भावोन्माद में हम उन्मत्त बने रह सकें। विपश्यना कोई भजन नहीं है, कोई कीर्तन नहीं है, कोई संगीत नहीं है, कोई नृत्य नहीं है जिसमें कि भावविभोर होकर हम आत्म-विस्मृत बने रह सकें। विपश्यना कोई ऋद्धि नहीं है, कोई चमत्कार नहीं है जिसकी कि अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्य-चकित बने रह सकें। विपश्यना शब्दों के इन्द्रजाल की कोई माया नहीं है जिससे कि हम किसी के वाणीविलास से अपना बुद्धिविलास करते रह सकें। विपश्यना कोई दार्शनिक ऊहापोह नहीं है जिसके कि सहारे हम दिमागी कसरत करते रहने में अपने आपको मशगूल रख सकें। विपश्यना तत्त्वचिन्तकों का कोई अखाड़ा नहीं है जहां कि हम वाद-विवादी, तर्क-वितर्की बनकर शब्दों के बाल की खाल खींचते हुए बौद्धिक खेल खेलने में अपने आपको भरमाए रख सकें। विपश्यना कोई विशिष्ट प्रकार की वेष-भूषा नहीं है जिसे पहनकर हम धर्मवान बन जाने का गुमान कर सकें। विपश्यना कोई रूढ़ि नहीं है, कोई कर्मकांड नहीं है जिसे पूरा करके हम धर्म के नाम पर आत्म-छलना करते रह सकें। विपश्यना कोई ग्रन्थ-पाठ नहीं है जिसका कि पारायण करके हम वैतरणी पार होने का स्वप्न ले सकें। विपश्यना कोई प्रपत्ति नहीं है कि जिसके द्वारा किसी दृश्य-अदृश्य शक्ति के प्रति प्रपन्न होकर हम निश्चिंत हो सकें, अकर्मण्य बन सकें। विपश्यना किसी काल्पनिक तारक देव-ब्रह्म का अथवा किसी दंभी धर्माचार्य का मिथ्या आश्वासन नहीं है जो कि हमारे लिए डूबते को तिनके का सहारा बन सके।

तो फिर विपश्यना क्या है?

विपश्यना सत्य की उपासना है। सत्य में जीने का अभ्यास है। सत्य यानी

यथार्थ और यथार्थ इसी क्षण का होता है। भूतकाल की यादें हो सकती हैं, भविष्यकाल की कामनाएं, कल्पनाएं हो सकती हैं। वास्तविकता इसी क्षण की होती है। अतः विपश्यना इसी क्षण में जीने का अभ्यास है। यह क्षण जिसमें भूत की कोई जल्पना नहीं, भविष्य की कोई कल्पना नहीं। यादों की आकुल आहें नहीं, स्वप्नों की व्याकुल चाहें नहीं। आवरण-विहीन, माया-विहीन, विपल्लास-विहीन, भ्रम-भ्रांति-विहीन, इस क्षण का सत्य जो भी है, जैसा भी है उसे ठीक वैसा ही, उसके सही स्वभाव में देखना-समझना यही विपश्यना है। विपश्यना सम्यक दर्शन है। विपश्यना सम्यक ज्ञान है।

जो है, जैसा है, उसे ठीक वैसे ही देख-समझकर जो आचरण होगा, वही सही आचरण होगा, कल्याणकारी आचरण होगा, सम्यक आचरण होगा। विपश्यना सम्यक आचरण है।

विपश्यना पलायन नहीं है, जीवन-विमुखता नहीं है, प्रत्युत जीवन-अभिमुख होकर जीने की शैली है। विपश्यना खुली हवा में ठोस धरती पर कदम रखकर चलने की एक कला है। विपश्यना बुद्धिकिलोल नहीं, प्रत्युत शुद्ध धर्म-शील को जीवन में उतारने की विधि है। विपश्यना आत्म मंगलमयी और सर्व मंगलमयी आचारसंहिता है। स्वयं सुख से जीने तथा औरों को सुख से जीने देने की कल्याण-कारिणी जीवनपद्धति है। विपश्यना आत्म-मंगल है, विपश्यना सर्व-मंगल है। विपश्यना आत्मोदय है, विपश्यना सर्वोदय है।

विपश्यना आत्मनिर्भरता है। बिना बैसाखियों के स्वयं अपने पांव पर खड़े होने की मंगल विधा है। स्वावलंबन की सर्वोत्कृष्ट साधना है। विपश्यना आत्मदर्शन है, आत्म-निरीक्षण है, आत्म-परीक्षण है। अपने ही अंदर का कितना-कितना मैल उतरा? कितना बाकी है? कितनी-कितनी निर्मलता आयी? कितनी बाकी है? कितने-कितने दुर्गुण दूर हुए? कितने बाकी हैं? कितने-कितने सद्गुण आए? कितने बाकी हैं? स्वयं ही स्वयं का लेखा-जोखा रखते रहने की जागरूकता ही विपश्यना है। स्वयं ही तस्कर, स्वयं ही रक्षक। स्वयं ही रोगी, स्वयं ही चिकित्सक। अज्ञान से ज्ञान की ओर, मैल से निर्मलता की ओर, रोग से आरोग्य की ओर, दुःख से दुख-विमुक्ति की ओर बढ़ते रहने का स्व-प्रयास ही विपश्यना है। विपश्यना सही प्रयास है, सही प्रयत्न है। सम्यक अभ्यास है, सम्यक व्यायाम है।

विपश्यना आत्म-संवर है। अपने मन पर मैल न चढ़ने देने का संवर। विपश्यना आत्म-निर्जरा है। अपने मन के पुराने मैल उतार फेंकने की निर्जरा। नया मैल कोई दूसरा नहीं चढ़ाता। हम स्वयं ही मोह-विमूढ़ित होकर चढ़ाते रहते हैं।

अतः स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक सतत जागरूक रहकर नया मैल न चढ़ने देना विपश्यना है। पुराना मैल किसी अन्य का चढ़ाया हुआ नहीं है, प्रमादवश स्वयं हमने ही चढ़ाया है। इसे दूर करने की सारी जिम्मेदारी हमारी अपनी ही है, किसी अन्य की नहीं। अतः अपना पुराना मैल स्वयं उतारते रहना ही विपश्यना है। धीरजपूर्वक प्रयत्न करते हुए थोड़ा-थोड़ा करके अपना मैल उतारते ही रहेंगे तो एक दिन पूर्ण निर्मलता प्राप्त हो ही जायगी। मन निर्मल हो जायगा तो सद्गुणों से भर ही जायगा। मन निर्मल हो जायगा तो दूषित मन पर आधारित सारे शारीरिक रोग स्वतः दूर हो ही जायेंगे। सारे दुःख दूर हो ही जायेंगे। विपश्यना आरोग्यवर्धिनी संजीवन औषधि है। विपश्यना चित्तविशोधनी धर्म-गंगा है। विपश्यना दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है। विपश्यना मुक्तिदायिनी धर्मवीथि है।

विपश्यना शील, समाधि में स्थित होकर अंतर्प्रज्ञा जाग्रत करने का पावन अभ्यास है। शनैः शनैः प्रज्ञा पुष्ट करने का सत्प्रयास है। स्थितप्रज्ञ होने का शुभायास है। प्रज्ञा यानी प्रत्येक प्रत्युत्पन्न स्थिति को प्रकार-प्रकार से जानना। विमोहिनी एकांत दृष्टि त्यागकर सत्य-दर्शिनी अनेकांत दृष्टि द्वारा यथार्थ का सर्वांगीण निरीक्षण करना, उसके सही स्वभाव का तटस्थ होकर साक्षात्कार करना है। यही विपश्यना है। विपश्यना निःसंग दर्शन है, विपश्यना निर्लिप्त निरीक्षण है, विपश्यना नितांत अनासक्ति है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति का सामना होते ही उसे ठीक-ठीक देखे समझे बिना सहसा अंधप्रतिक्रिया करना ही दुष्प्रज्ञता है। यही मानसिक क्षोभ है, उत्तेजना है, विकृति है, असंतुलन है, अशांति है, अतः दुःख है। परंतु ऐसी हर अवस्था को विवेकपूर्वक देख-समझकर अपने मन की समता बनाए रखना ही प्रज्ञा है। संतुलित चित्त से ही आगत परिस्थिति का सामना करना धर्माचरण है, मंगल आचरण है। यही विपश्यना है। उत्पन्न स्थिति को हथियाने की या हटाने की कोई भी हठात चेष्टा करने से बचते हुए अपने आपको संतुलित कर लेना और तदनंतर जो कुछ करणीय है, शांतिपूर्वक वही करना, यही सम्यक जीवन व्यवहार है। यही विपश्यना है। पर को बदलने के प्रयत्न के पूर्व स्व को बदलना ही शुद्ध चित्त का व्यवहार-कौशल्य है। यही विपश्यना है। विपश्यना आत्म-संयम है, आत्म संतुलन है। विपश्यना आत्म समता है, आत्म सामयिकी है।

विपश्यना आत्मशुद्धि है, आत्मविमुक्ति है। विकार-विमुक्त शुद्ध चित्त से ही सहज मैत्री का, सहज करुणा का अजस्र मंगल झरना अनायास फूटता रहता है, यही मानव जीवन की चरम उपलब्धि है, यही विपश्यना साधना की चरम परिणति है।

विपश्यना की सिद्धि कठिन अवश्य है, पर असंभव नहीं है। विपश्यना कष्टसाध्य अवश्य है पर असाध्य नहीं है। विपश्यना स्वप्रयत्नसाध्य ही है। केवल एक या एकाधिक विपश्यना शिविरों में सम्मिलित हो जाना ही सब कुछ नहीं है। यह तो जीवनभर का अभ्यास है। विपश्यना का जीवन जीते रहना होगा, सतत सजग, सतत सचेष्ट, सतत सयत्न रहते हुए।

अतः विपश्यना धर्म-पथ के पथिको! आओ विपश्यना के इस मंगल पथ पर अदम्य उत्साह के साथ आगे बढ़ते ही चलें। गिरते-पड़ते और फिर खड़े होकर, घुटनों को सहलाकर, कपड़ों को झाड़कर आगे बढ़ते ही चलें। हर फिसलन अगले कदम के लिए नई दृढ़ता पैदा करने वाली हो। हर ठोकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नई उमंग और नया उल्लास पैदा करने वाली हो। अतः रुकें नहीं, अटकें नहीं, चलते ही जायँ। कदम-कदम आगे बढ़ते ही जायँ। यही मंगल विधान है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ ज्येष्ठ पूर्णिमा दि. २३-६-७५ अंक १३)

पत्रिका संग्रह

(जुलाई १९७५ से जून १९७६ तक)

विपश्यना-साधनाः मेरे अनुभव

—डॉ विट्ठलदास मोदी

शाम को पांच बजे मैं बर्मी बौद्ध विहार पहुँचा। यह वाराणसी कैंट स्टेशन से लगभग आधा मील की दूरी पर पूरब की ओर है, नजदीक ही बस का अड्डा है, घनी आबादी के बीच। जगह भी कुछ जंची नहीं, स्वच्छता और विस्तार भी मनोनुकूल नहीं लगा। मुझे रहने को आठ फुट लंबा और छह फुट चौडा एक केबिन मिला। सोचा, चलो शुरू करो, दो दिन तो देखें ही, तबीयत नहीं लगी तो भाग निकलेंगे। चतुर्भुज (मेरा पुत्र) यहां वाराणसी में ही रहता है।

घंटे भर लोगों का जायजा लेता रहा। कुल सौ व्यक्ति थे। पचास विदेशी जिसमें अधिकतर युवक और युवतियां और पचास भारतीय, जिसमें सभी उम्र के लोग, १२ वर्ष के बच्चे से लेकर ७५ वर्ष के बूढ़े तक।

यहां संध्या ७ बजे से कल्याणमित्र श्री सत्यनारायणजी गोयन्का के संचालन में दस दिन का विपश्यना साधना शिविर चलने वाला था और इसमें सम्मिलित होने मैं, मेरे मित्र श्री यशपाल जैन की आज्ञा शिरोधार्य कर आया था। बात यह हुई कि उनके समझाने पर जब मैं किसी तरह राजी न हुआ तो उन्होंने कहा, 'अब मेरी आज्ञा समझकर शिविर में शामिल हो' तो फिर मुझे प्रयोग के लिए इसमें शामिल होना पड़ा।

किसी साधना शिविर में शामिल होने या किसी से ध्यान सीखने में मेरी बचपन से ही अरुचि थी। यों आरोग्य मंदिर में अनेक साधु महात्मा चिकित्सा के लिए पधारे हैं। बहुत से गुरु भी। सभी ने मुझे प्रसाद-स्वरूप ध्यान-सरीखी कोई चीज देनी चाही। पर मैंने किसी को अपने कंधे पर हाथ रखने नहीं दिया। एक बार अनायास ही कहीं से एक थियासोफिस्ट भद्र महिला मुझे राह दिखाने आ गई थी। आते ही उन्होंने मुझसे एकांत चाहा और मुझे पूर्व जन्मों की कथा कहने लगी। उन्होंने मुझे बड़ी ऊंची आत्मा साबित किया और रात को सोते समय सोचने की कुछ विधि बता गयी। ताकि मैं लोक-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकूं। जैसे वे आयी थीं, वैसे ही उठकर चली गयीं, मैं अभिभूत हुआ। लगा जैसे कोई सपना-सा देखा हो, पर मुझसे करते कुछ बना नहीं, दिशा नहीं बदली और मैं अपने व्यवसाय में ही लगा रह गया।

ध्यान के प्रति अरुचि मेरी इसलिए थी कि जब मैं दस वर्ष का था तब स्थानीय भजनाश्रम पाठशाला में पढ़ता था। वहां पढ़ाई कम होती थी, भजन-ध्यान अधिक। एक साथ में ही मुझे गीता के सात सौ श्लोक कंठस्थ करा

दिए गये थे, जिसका नित्य डेढ़ घंटे के अंदर पारायण कर जाना पड़ता था।

ध्यान वहां सिखाया नहीं, कराया जाता था। आध घंटे के लिए एक आसन पर बिठा दिया जाता था, आज्ञा होती - 'आंख बंद करो, नाक के अग्रभाग को देखो और भगवान चतुर्भुज के वहां दर्शन करो। भगवान चतुर्भुज वे, जो हमें गीता पढ़ाई जाती उसमें छपे थे।'

मैं सोचता भगवान छप कैसे सकते हैं? वे मुझे बूढ़े और गहने लादे हुए लगते। उनको देखते रहना मेरे लिए असह्य हो उठता। पर मेरी शरारतों ने काम किया और मैं भजनाश्रम से निकाल दिया गया। फिर मेरे पिताजी ने मेरा दाखिला एक अंग्रेजी स्कूल में करा दिया और मैं ध्यान करने से बच गया।

थोड़ी ही देर में गोयन्काजी पधारे, बर्मी लुंगी-कमीज पहने, गेहुँआ रंग, थोड़ा भारी शरीर। साथ में उनकी धर्मपत्नी। वे मुझे एक सद्गृहस्थ लगे।

गोयन्काजी बर्मा निवासी हैं। इनकी मातृभूमि बर्मा है। जवानी में ही भयंकर शिरोपीड़ा (माईग्रेन) होने लगी, जिसकी चिकित्सा बर्मा में न हो सकने पर चार मास तक घूम-घूमकर इन्होंने स्विटजरलैंड, जर्मनी, इंग्लैंड, अमेरिका और जापान में करायी, पर लाभ न हुआ। एक मित्र के कहने पर बड़ी हिचकिचाहट के बाद वे सयाजी ऊ बा खिन के एक दस दिन के विपश्यना-साधना शिविर में शामिल हुए। विपश्यना साधना से इनका सिरदर्द ही नहीं गया, वह तनाव भी दूर हो गया, जो सिरदर्द का कारण था और जीवन को भार बनाए हुए था।

फिर तो गोयन्काजी ऊ बा खिन के भक्त ही बन गए और चौदह वर्ष तक उनके भारतीय विद्यार्थियों के लिए दुभाषिए का काम करते रहे और अपना ज्ञान और साधना का अभ्यास बढ़ाते रहे।

सयाजी ऊ बा खिन की आज्ञा से इन्होंने पहला दस दिन का साधना शिविर ३ से १३ जुलाई, १९६९ तक मुंबई में चलाया। इसके बाद तो शिविरों का तांता लग गया और अब तक देश के विभिन्न स्थानों में १०० शिविर हो चुके हैं, जिसमें लगभग ४८०० व्यक्तियों ने भाग लिया है।

आध घंटे बाद हमें ऊपर हाल में बुलाया गया। साफ सुथरा हाल जिसमें दो सौ व्यक्ति आसानी से बैठ सकते थे। पीछे सफेद संगमरमर की बनी भगवान बुद्ध की अल्प मुस्कराती एक ऊंचे चबूतरे पर प्रस्थापित गंभीर मूर्ति, हल्का प्रकाश, मूर्ति के सामने ही चौकी पर गोयन्काजी और उनकी पत्नी। सब कुछ बड़ा संमोहक-सा लगा। हमलोग बैठ गये। पहले गोयन्काजी ने कुछ प्रार्थना की, हमारा स्वागत किया और विधि के बारे में संक्षिप्त विवरण दिया और फिर हमें आना-पान सिखाया। आनापान अर्थात नाक से आती सांस और नाक से जाती सांस को

देखना, उस पर मन केन्द्रित करना। फिर तो लगने लगा कि जो वायु हम नाक द्वारा खींचते है वह ठंडी है और जो छोड़ते हैं वह गरम है। धीरे धीरे आती-जाती सांस की टकराहट महसूस करने लगे, फिर वहां की रोमावली लहराती मालूम हुई। स्पर्श-स्थान बहुत छोटा हो गया। इस प्रकार हमने मनको एक सूक्ष्म स्थान पर, एक सूक्ष्म प्रक्रिया में केंद्रित करना सीखा। यह तीसरे दिन दोपहर तक हो गया।

प्रातः चार बजे नींद छोड़कर उठना होता और सोते रात को सवा नौ बजे। इस बीच नित्य बारह घंटे ध्यान करना होता और अंतिम ध्यान के समय के बाद कल्याणमित्र का एक घंटे का प्रवचन जिसमें वे हमें इंद्रियों के धर्म, उनकी संवेदनाओं, दुःख-सुख के आवरण में लिपटे दुःख के बारे में समझाते। मन बुद्धि और चित्त का स्वरूप बताते, आसक्ति कामना, अतृप्ति, तृष्णा का दुःख से संबंध बताते और जिस पथ पर वे हमें अग्रसर कर रहे थे, उसकी विधि स्पष्ट करते। दिन में बारी-बारी से प्रत्येक व्यक्ति से बात करके उसकी प्रगति समझते और उसकी कठिनाई को दूर करने की विधि बताते।

सुबह साढ़े छः बजे हमें दलिया और दूध का नाश्ता मिला। ग्यारह बजे भोजन। भोजन में सब्जियों की अधिकता थी - घी, तेल का नाम नहीं, मसाले में सिर्फ नमक। शाम को पांच बजे चाय, दूध और रात को दूध और उसके साथ एक अमरूद और एक केला मिलता। भोजन स्वच्छ, सात्त्विक, और हर दृष्टि से स्वास्थ्यकर था।

तीसरे दिन संध्या के समय हमें विपश्यना सिखायी गयी। विपश्यना अर्थात अपने को विशेष विधि से देखना। नासिका से आती-जाती सांस पर केन्द्रित मन को हम शिरोभाग पर ले गए, सारे सिर पर उसे धीरे-धीरे फिराया; फिर मुख पर तब गर्दन पर और तब छाती और पीठ पर, फिर हाथों और पैरों पर। इसी विधि से हम उसे सिर पर वापस ले गए अनेक अनुभूतियां होती रहीं। कहीं वेदना, कहीं स्फुरण, कहीं कंपन आदि। मंत्र मिला था - जो महसूस हो वह न प्रिय लगे न अप्रिय। हम केवल उसे देखें, उससे न छुटकारा चाहें न उसे रखना। केवल यह देखें कि बहाव टिकने नहीं पाता। वह अनित्य है।

इन बहावों को हम अनित्य समझ, आगे बढ़ते रहते। केन्द्रीकरण के लिए प्रशिक्षित मनको हम शरीर की त्वचा तक ही नहीं, अंदर तक ले जाते। परिणाम यह हुआ कि शरीर में जगह-जगह या पूरे शरीर में एकत्र मल टूटने लगा, उसकी जगह छूटने लगी, वह नष्ट होने लगा और लोगों के शरीर मल से विलोड़ित होने लगे। शरीर में जगह-जगह दर्द होता, ज्वर-सा लगता, कइयों को मिचली आने लगी, नशा-सा छा गया, नींद गायब हो गयी। पर इन सब का अनित्य रूप हम

समझ चुके थे अतः किसी ने धैर्य नहीं छोड़ा। मेरे लिये यह सब समझना ज्यादा आसान था। यह सब प्राकृतिक चिकित्सा की प्रक्रिया के समान था जिसमें चिकित्सा चलने पर विजातीय द्रव्य उभार के रूप में निकलते हैं और निकलते समय कष्टकर होते हैं, पर निकल जाने के बाद शरीर को स्वच्छ और स्वस्थ बना जाते हैं।

किसी की हालत ज्यादा खराब होने पर कल्याणमित्र को साधकों को शांत करने के लिए उसके पास बैठना होता था और वे उसकी मंगलकामना करते थे।

विपश्यना की प्रशिक्षा के बाद सब के प्रति मंगल-कामना करना हमारा अंतिम पाठ था - जिसको मैंने शरीर, वाणी या चित्त से नुकसान पहुँचाया है, वे मुझे क्षमा करें। जिन्होंने मुझे मन, वाणी या शरीर से कष्ट या नुकसान पहुँचाया है उन्हें मैं क्षमा करता हूं। सिखाया गया कि अपने मित्रों, हितैषियों, संबंधियों के अतिरिक्त उन्हें भी जिनके प्रति क्रोध या द्वेष हो, एक-एक करके मानस पटल पर लाओ और उनकी मंगल कामना करो– इनका मंगल हो, ये सुखी रहें, ये स्वस्थ रहें!

यह सब किया, फल हुआ कि मन में जो राग-द्वेष, क्रोध पल रहे थे वे धुलने लगे और उसी अनुपात में मैं अपने को हल्का अनुभव करने लगा।

विपश्यना शिविर के दस दिन कैसे चले गये पता नहीं चला। पता चला अंतिम दिन कि आज अंतिम दिन है। जल्दी-जल्दी में लोगों से परिचय प्राप्त करने लगा। विदेशियों का परिचय जानने की इच्छा बलवती थी।

आप कहां से आये हैं? "स्विटजरलैंड से।" कब तक यहां रहेंगे?" कल जा रहा हूं।" विपश्यना शिविर का पता आपको कैसे चला? "स्विटजरलैंड में मेरे एक मित्र ने मुझे बताया था। यहां भारत नहीं घूमेंगे? "मेरा काम हो गया। मैं जो चाहता था वह मैंने पा लिया।"

बहुतों से पूछा, वे किसी-न-किसी के बताने पर आये थे। सभी संतुष्ट और आश्वस्त-से लगे। वे कुछ खोज रहे थे, जो उन्हें मिला था।

कई विदेशी साधकों के मैंने साधना-शिविर में प्रवेश पाने के लिए भरे गये प्रार्थनापत्र देखे। जिसमें इस एक प्रश्न का भी उत्तर देना था कि क्या आप किसी नशे के आदी रहे हैं? या हैं? दस में से छह का उत्तर था - एल.एस.डी. और गांजा। सुख की झलक पाने के लिए करते थे। यह राह इन्हें यहां विपश्यना में मिली। नशे की आदत कितनी विकट होती है।

पर ये और सभी साधक शिविर के दस दिनों में बड़े संयम से रहे और साधकों के लिए आवश्यक पंचशील - (१) हिंसा नहीं करूंगा (२) चोरी नहीं करूंगा (३) ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूंगा (४) असत्य भाषण नहीं करूंगा (५) मादक द्रव्य का व्यवहार नहीं करूंगा– का पूर्णतः पालन करते रहे।

कल्याणमित्र गोयन्काजी ने समापन-भाषण किया, 'यदि वासना मिट जाये तो आदमी स्वयं तक जायेगा, उसे सहायता की जरूरत नहीं रह जायेगी। वे जो बताना था, बता चुके थे। 'अपने पैरों पर खड़े रहो' की उनकी यह अंतिम सलाह थी। गुरु-शिष्य की कोई बात नहीं थी। मित्र-मित्र अलग हो रहे थे। उन्होंने अंतिम सलाह के तौर पर कहा, 'नित्य प्रातः और रात्रि को एक-एक घंटा साधना में जरूर बैठें और मुझे भी कुछ दें, वह यह कि साधना के अंत में जब सबको मंगल कामना भेजें तो मुझे भी मंगल कामना भेजना न भूलें। बस केवल यही दक्षिणा मुझे अपने साधकों से चाहिये।

शरीर-शोधन के लिए समय-समय पर मैंने कई छोटे-बड़े उपवास किये हैं। एक बार अड़तीस (३८) दिन का भी उपवास किया था। उस उपवास के अंत में मैंने जिस शारीरिक स्वच्छता का अनुभव किया था, उसी स्वच्छता की अनुभूति मुझे साधना शिविर के अंत में हुई। मन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसके नाप-जोख का उपाय मेरे पास नहीं है। हां, मेरी पुत्रबधू उमा ने वाराणसी से मेरी पत्नी को पत्र लिखकर जब पूछा कि विपश्यना शिविर का बाबूजी पर क्या प्रभाव पड़ा है? तब उन्होंने उसे लिखा कि इनका क्रोध बहुत कम हो गया है और तभी मैंने जाना कि मेरा क्रोध मेरी पत्नी के लिए कष्टकारक होने की सीमा तक पहुँचा हुआ था।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ आषाढ़ पूर्णिमा दि. २३-७-७५ अंक १)

क्या पड़ा है 'नाम' में ?

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के मां-बाप ने उसका नाम पापक [पापी] रख दिया। बड़ा हुआ तो उसे अपना यह नाम बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भन्ते! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है क्योंकि बड़ा अशुभ है, अमांगलिक है, मनहूस है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए होता है, व्यवहार जगत में पुकारने भर के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। कोई पापक नाम रखकर भी अपने सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रखकर भी अपने दुष्कर्मों से पापी बन सकता है। मुख्य बात तो कर्म की है, नाम बदलने से क्या होगा?

पर वह नहीं माना। आग्रह करता ही रहा तो आचार्य ने कहा; "अर्थ-सिद्धि तो कर्म सुधारने से ही होगी, परंतु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गांव-नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम भी वैसा ही बदल दिया जायगा।"

पापक सुन्दर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर गया? तो लोगों ने बताया – जीवक। पापक सोचने लगा, नाम तो जीवक है पर फिर भी मृत्यु का शिकार हो गया।

आगे बढ़ा तो देखा किसी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार-पीट कर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया – धनपाली। पापक सोचने लगा कि नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज। और आगे बढ़ा तो किसी राह भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। उस व्यक्ति का नाम पूछा तो बताया गया-पन्थक। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे! पंथक भी पंथ पूछते हैं! पंथक भी पंथ भूलते हैं!

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गई। क्या पड़ा है नाम में? जीवक भी मरते हैं और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है जनम का दुखिया, नाम चैनसुख। जनम का अंधा, नाम नयनसुख। रहे नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है? मैं अपना कर्म सुधारूंगा। कर्म ही प्रमुख है, कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, ठीक वही संप्रदाय के नाम पर भी

लागू होती है। न बौद्ध संप्रदाय के सभी लोग बोधिसंपन्न होते हैं और न जैन संप्रदाय के सभी आत्मजित। न ब्राह्मण संप्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न ही इस्लाम के सभी समर्पित और शांत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई-बुराई दोनों ही होती है, वैसे ही हर संप्रदाय में भी अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के लोग होते हैं। किसी भी संप्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं और न सभी लोग बुरे। परंतु सांप्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने संप्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराए संप्रदाय के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं और ऐसा कर अपना ही मन मैला करते हैं।

कोई व्यक्ति बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से न सज्जन हो जाता है और न दुर्जन। बौद्ध कहलाने वाला व्यक्ति परमपुण्यवान भी हो सकता है और नितांत पापी भी। यही बात सभी संप्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे किसी व्यक्ति को पहचानने के लिए कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय को पहचानने के लिए जाति या संप्रदाय का नाम दिया जाता है। इन नामों से गुणों का कोई संबंध नहीं। तेल भरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने से तेल तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुंदर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप नहीं बन जाता और किसी कुरूप को सुंदर कहने लगें तो वह सुंदर नहीं हो जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल-फूल ही रहता है, कांटा-कांटा ही।

कोई व्यक्ति रंक हो, पर नाम हो उसका राजन्य। ऐसा व्यक्ति जब तक इस बात को समझता है कि यह राजन्य नाम तो केवल संबोधन हित है, वस्तुतः तो मैं रंक ही हूं तब तक तो वह होश में है। परंतु जिस दिन वह राजन्य के नाम का दंभ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आपको राव, राजा मानने लगता है और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति लोगों के लिए उपहास का पात्र हो जाता है। परंतु जहां राजन्य नाम के हजारों-लाखों रंक हों और सब के सब संगठित होकर अपने आपको राव, राजा मानने लगें तथा बाकी सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नहीं बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है जबकि हम जातीयता, सांप्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ाकर प्रमत्त हो उठते हैं और अपने आपको औरों से श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का कारण बन जाते हैं। समाज की अशांति का कारण बन जाते हैं। वस्तुतः अपने आपके लिए भी खतरे और अशांति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति से दूर पड़ जाते हैं। माने धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, समुदाय, संप्रदाय, देश, राष्ट्र, की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्गविशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने संप्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिंदू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी महक में कोई अंतर नहीं आयगा। जिस बगिया में भी खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस-पास के सभी स्थानों को अपनी सौरभ से सुरभित करेगा ही। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की, नेक इन्सान बनने की, नाम चाहे जो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए, सौरभ बिखरना चाहिए।

सांप्रदायिकता का और जातीयता का रंगीन चश्मा उतारकर देखेंगे तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आयगा। अन्यथा अपने-अपने संप्रदाय का रंग-रोगन ही, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेगा। धर्म का सार हीन हो जायगा। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कसकर देखना हो तो यह नहीं देखेंगे कि यह व्यक्ति किस संप्रदाय में दीक्षित है? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है? वरन यह देखेंगे कि इस व्यक्ति का आचरण कैसा है? जीवन व्यवहार कैसा है? कुशल है या नहीं? पावन है या नहीं? आत्म मंगलकारी और लोकमंगलकारी है या नहीं? यदि है तो वह धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नहीं है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। भले वह अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे। भले वह चाहे जिस संप्रदाय का, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाये फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या सरोकार? कोरे नाम से, बिल्लों से, हमें क्या मिलने वाला है? किसी को भी क्या मिलने वाला है? दूध का लेबल जिस बोतल पर लगा हो और उस बोतल में शराब भरी हो तो उसे पीकर हम अपनी हानि ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास भले बुझा लें, परंतु बलवान नहीं बन सकेगें। बलवान बनना हो तो निखालिस दूध ही पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर लगा लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा है? सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर सवार होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म गौण हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठकर अपने आचरण सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कड़ुवापन, निंदा और निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और प्रमाद सेवन से बचें। अपनी आजीविका को शुद्ध करें। लोक-अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संयमित रखते हुए उसे वश में रखना सीखें, उसे सतत सावधान, जागरूक बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटनेवाली घटना को जैसी है वैसी, साक्षीभाव से देख सकने का अभ्यास बढ़ाकर अंतस की राग, द्वेष और मोह की ग्रंथियां दूर करें। चित्त को नितांत निर्मल बनाएं। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें। बिना नाम-लेबल वाले धर्म का यही मंगल विधान है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ श्रावण पूर्णिमा दि. २१-८-७५ अंक २)

शारीरिक व मानसिक बीमारी से बचने का उपाय

–रिषभदास रांका (जैन)

सभी धर्मों ने, महापुरुषों ने समता को मानव की दुःख-मुक्ति का सार्वजनीन धर्म या मार्ग बताया है। सबने मन को दुःख-मुक्ति या दुःख का कारण माना है। इस विषय में सभी सयाने एक मत हैं। सिर्फ यह समता कैसे साधी जाय, यह प्रश्न है?

इसमें भी सभी में एक मत पाया जाता है कि यदि दुःख से मुक्ति पानी है तो उसका प्रयत्न भी हमें ही करना होगा। हमें कोई दूसरा दुःख-मुक्त नहीं कर सकता, फिर वह चाहे जितना शक्तिशाली हो या स्वयं भगवान भी हो।

भगवान या महापुरुष, धर्मवेत्ता या अनुभवियों से दुःख-मुक्ति का रास्ता मिल सकता है, उनके अनुभव का लाभ प्राप्त हो सकता है पर यदि दुःख-मुक्त होना है तो प्रयत्न हमें ही करने होंगे। उसमें दूसरा कुछ करना चाहे तो भी नहीं कर सकता।

दुःख से मुक्त होने की प्रत्येक व्यक्ति में क्षमता है। वह अपनी क्षमता या शक्ति को भूलकर दुःख-मुक्ति के लिए, सुख-प्राप्ति के लिए बाहर ढूंढ़ता है, दूसरों से अपेक्षा रखता है। दाता भिखारी बन गया है। अपनी शक्ति को भूल कर दीन बन गया है।

अपनी शक्ति जगाने, उसका अनुभव प्राप्त करने का रास्ता विपश्यना साधना है। इसमें कोई गूढ़ता नहीं है। परावलंबन नहीं है। सिर्फ अपने आपको देखना है। जो चित्त बाहर भटकता था उसे एकाग्र कर स्वानुभव से, अपने पुरुषार्थ से दुःख-मुक्त होना है। यदि विधि बतानी हो तो चार वाक्यों में बताई जा सकती है। पर साधना में पुष्ट होने के लिए समय लगता है - अभ्यास के लिए योग्य वातावरण और मार्गदर्शन की आवश्यकता रहती है और उसके लिए श्री गोयन्काजी द्वारा लगाये जाने वाले शिविर बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

हमारी आदत बाहर देखने की हो जाने से प्रारंभ में घर में किया हुआ अभ्यास फलदायी नहीं होता।

दस दिन के शिविर का मोटा-मोटा विभाजन किया जाय तो तीन दिन शरीर व मन को एकाग्र करने में लगते हैं। पांच दिन अपने आपको भूतकाल की स्मृतियों व भविष्य के संकल्प-विकल्पों से बचाकर वर्तमान में जीना, अपने आपका अनुभव लेना होता है और दो दिन मैत्री भावना के अभ्यास के लिए, साधक

बाहरी संबंधों से अपने आपको बचा कर अपने में ही देखने की अनुकूलता निर्माण करता है। सवेरे ४ बजे से रात के १० बजे तक कार्यक्रम ऐसा बना दिया जाता है कि मन को एकाग्र किया जा सके।

चित्त को चंचल बनाने वाली बातों से अपने आपको दूर रखने का साधक का प्रयत्न रहता है। अखबार या चिट्ठी-पत्री से बाहर का संबंध न रहे इसलिए पत्राचार नहीं किया जाता, न निरर्थक की चर्चा की जाती है। अधिकांश समय साधना व मौन में बीते ऐसा प्रयत्न होता है।

साधना का प्रारंभ प्रातः ४-३० बजे से शुरू हो जाता है जो ६-३० बजे तक चलता है। ६-३० बजे से स्नान, कपड़े धोना, नाश्ता आदि से निवृत्त हो साधक ८ बजे सामूहिक साधना में शामिल होता है।

प्रारंभ में श्री गोयन्काजी साधना की विधि और उसकी पार्श्वभूमि समझाते हैं। शुरू में शरीर व मन को स्थिर रखने का अभ्यास करना होता है। प्रातः ८ से ९ तक सामूहिक साधना-ध्यान के अभ्यास के बाद प्रत्येक साधक को बुलाकर गोयन्काजी ध्यान में आनेवाली अनुभूति या अड़चनों को समझकर प्रत्येक साधक को अपने समक्ष ध्यान कराते हैं। प्रारंभ के तीन दिन आसन की स्थिरता और चलने वाले श्वास का ध्यान कराया जाता है। यह क्रम ९ से १० और कई बार १०-३० बजे तक चलता रहता है। फिर ११ बजे तक सामूहिक ध्यान कराके भोजनावकाश। फिर १ बजे तक विश्राम। १ से २-३० बजे तक साधक अपने अपने स्थान पर साधना करते हैं।

२-३० से ५ बजे तक सामूहिक ध्यान का अभ्यास। १ घंटा ध्यान के बाद साधक को बुलाकर अनुभव जानना और मार्गदर्शन और सायं ५ से ६ तक नाश्ता और विश्राम। जिन्हें रात को खाना नहीं होता वे पुराने साधक फल और दूध ले लेते हैं। भोजन बिना मिर्च वाले शाक-दाल, फुलके, चावल, कच्ची ककड़ी व गाजर का सलाद, छाछ और पापड़। नाश्ते में सवेरे दलिया, उपमा, भाखरी, नमकीन, चाय या काफी। शाम को कभी चना-मूंगफली, कभी सेब-मुरमुरा, कभी पोहे और चाय/दूध, जिन्हें फल लेना हो वे फल-दूध लें। भोजन भी साधना के अनुकूल रहता है।

फिर सांय ६ बजे से सामूहिक साधना। ७ से ८ बजे तक गोयन्काजी का साधना व अभ्यास के लिए अनुकूल ऐसा प्रवचन। ८ से ९ बजे तक ध्यान। ९ से १० बजे तक गोयन्काजी के साथ प्रश्नोत्तर। १० के बाद सबको मौन ही रहना होता है।

प्रायः पहले तीन दिनों में साधक श्वास-प्रश्वास द्वारा ध्यान करने लग जाता है। फिर चौथे दिन से उसे शरीर में होने वाले परिवर्तनों की ओर विशेष ध्यान देने को कहा जाता है जिसमें गोयन्काजी साधक को सजग रहकर शरीर में जो कुछ संवेदना हो, उस ओर ध्यान देने और केवल द्रष्टा बन कर देखने को कहते हैं। अपने आपको विशेष रूप से देखने को, जैनों की भाषा में अपना सम्यक दर्शन कहते हैं, यही विपश्यना ध्यान है। वर्तमान में होने वाली संवेदनाओं को देखो। अपने भीतर चलनेवाली संवेदनाओं को समतापूर्वक देखना। सिर्फ देखना ही देखना। थोड़े अभ्यास से साधक स्थूल संवेदनाओं से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर में जाने लगते हैं। (गोयन्काजी) हर दिन प्रत्येक साधक का निरीक्षण कर उन्हें मार्गदर्शन देते रहते हैं। इसके अतिरिक्त दोपहर १२ से १ बजे तक एकांत में व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रत्येक साधक को समय देते हैं।

अविश्रान्त १२-१३ घंटे तक गोयन्काजी का काम चलता रहता है। मधुर मुस्कान से सबकी समस्याएं सुलझाते रहते हैं। वे चाहते हैं कि साधक उन्हें अपना कल्याण मित्र समझकर निःसंकोच सेवाएं लें। पर उनके प्रति जरूरत से ज्यादा आदर या भक्तिभाव का प्रदर्शन न हो। वे इसमें बड़े सावधान हैं।

साधना के ८ दिन बीतने पर दो दिन साधक मंगल मैत्री की मंगल भावना को पुष्ट करने में लगाये, ऐसा उनका प्रयत्न रहता है और जगत के सभी प्राणियों के कल्याण की कामना का अभ्यास कराया जाता है।

मुझे विपश्यना मानसिक रोग का उपाय लगी, जिसमें मनुष्य समता भाव को अपनाकर अपने आपको राग-द्वेष और मोह से मुक्त रखकर, नये कर्मों के बंधन का संवर करता है यानी नई गाठें बंधने नहीं देता और पुरानी ग्रंथियों से छुटकारा पाकर निर्ग्रंथ बनता है।

मुझे तो विपश्यना मानसिक बीमारियों से मुक्ति का उपाय मालूम हुई, जिसमें मन को स्वस्थ बनाया जाता है। मन में ग्रंथियां बँधनी बंद हो जायँ और पुरानी टूटती जायँ तो सहज में हल्कापन आता है। फिर भी गोयन्काजी कुशल व्यापारी की तरह किसी को झूठा आश्वासन नहीं देते और न आशाओं के स्वप्न ही संजोने को कहते हैं। सुख और दुःख दोनों संवेदनाओं को साक्षी रूप से देखते जाना है। न उसमें राग करना है और न द्वेष ही। क्योंकि क्षण-क्षण में होने वाले परिवर्तन के स्वभाव वाली चीज से क्या राग करना और क्या द्वेष? यह तो उत्पाद से व्यय का सिलसिला ध्रुव रूप में चलते ही रहता है। यह तो वस्तु का स्वभाव है, धर्म है। उसे केवल देखना है, भोगना नहीं। अनासक्त भाव से चलने वाली संवेदनाओं को देखते जाना है। यदि करना ही हो तो प्राणीमात्र के कल्याण की

कामना करना। अपनी चर्या ऐसी चलानी है जिससे न दूसरे को कष्ट हो और न अपने को।

मुझे विपश्यना ध्यान पुद्धति में कोई मतभेद नहीं दिखाई दिया। हर धर्म या संप्रदाय ने इसी बात को अपनी-अपनी भाषा में कहा है। बीमारी एक ही है। यदि विपश्यना द्वारा उस बीमारी को दूर करने का अमोघ उपाय बताया जाता है और कोई कहे कि चूंकि यह बुद्धों के द्वारा बताया गया है इसलिए हम यह उपाय नहीं करेंगे, हमें तो राग-द्वेष-मोह के द्वारा होने वाले दुःख भोगने ही हैं, तो उन्हें यह जबरदस्ती नहीं की जा सकती कि आपको दुःखमुक्त होना ही पड़ेगा। वह अपनी-अपनी इच्छा की बात है। पर जिन्हें दुःख से मुक्त होकर जीने की कला सीखनी हो, उन्हें चाहिए कि वे दस दिन किसी शिविर में जाकर अनुभव लें। जिससे जीने की कला तो सीखेंगे ही, पर मरते समय किस तरह शांत व विकार रहित अवस्था में समाधि-मरण प्राप्त हो सकता है, वह भी जाना जायगा। लंबी जिंदगी में से दस दिन का समय इस काम के लिए देना अव्यवहारिकता तो नहीं कहीं जा सकती। प्रयोग करने जैसा है पर वह प्रयोग शिविर में जाकर ही करना होगा। क्योंकि प्रारंभ में वातावरण, मार्गदर्शन और सतत अभ्यास के बिना इस साधना का ठीक लाभ नहीं मिल सकता। जिसे मन व शरीर की बीमारी या दुःख से मुक्ति पानी हो उसके लिए यह दस दिन का प्रयोग करणीय है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ भाद्रपद पूर्णिमा दि. २०-९-७५ अंक ३)

विपश्यना ध्यान शिविर : स्वानुभव

– राधाकृष्ण बजाज

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का द्वारा चलाये जा रहे विपश्यना ध्यान शिविर की बात कई वर्षों से सुनता आ रहा था। श्री गोयन्काजी तथा उनके भाई से अनेक वर्षों से मेरा निजी परिचय भी रहा है। मेरी इच्छा थी कि शिविर में एक बार शामिल होकर देखा जाय। संयोग से तारीख ३ जुलाई को हैदराबाद के शिविर में मैं और अनसूया दोनों ही शामिल हुए। पूरे दस दिन का अनुभव लिया। रोजाना १२ घंटे ध्यान, ६ घंटे नित्यक्रम व ६ घंटे निद्रा। इस प्रकार कसा हुआ कार्यक्रम था। शिविर का स्थान भी हैदराबाद से १० कि.मी. दूर कुसुम इण्डस्ट्रीज के अहाते में था। उसके मालिक रतीलाल भाई मेहता ७४ साल के होते हुए भी जवानों को लजाने वाली कर्मठता उनमें थी। सारा परिवार साधकों की आवभगत में लगा था। मानों उनके घर विवाह हो। उत्तम व्यवस्था थी। सुबह ६-३० बजे नाश्ता, ११ बजे भोजन, ५ बजे चाय-दूध, ९ बजे रात में दूध-फल। साधना में स्वाभाविक ही अन्न की आवश्यकता कम हो जाती है। इसलिए १ समय का भोजन पर्याप्त था।

जीवन जीने की कला

१० दिन की साधना पूरी करने के बाद दिल में सोचा कि यहां पर नई बात क्या पायी? तो पता लगा कि जीवन जीने की कला यहां हाथ लगी। टेढ़े-मेढ़े रास्तों की उलझन मिटी और एक सरल रास्ता दिखाई देने लगा। यों भी कह सकते हैं कि जिस रास्ते हम चलते आये हैं, उसके प्रति विश्वास बढ़ा और शंकाएं हटीं। टेढ़े-मेढ़े रास्तों से बचने की चाबी मिली। फिर भी मंजिल पर रास्ता चलने के बाद ही पहुँचेंगे, रास्ता जानने मात्र से नहीं।

मानना (गुरुवचन)

आज तक शास्त्र और गुरुवचन के आधार पर अनेक बातें मानते आ रहे हैं। जैसे शरीर और आत्मा भिन्न है, अपनी आत्मा का निरीक्षण करें, आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा ही अपना मित्र है, अपना भला बुरा करना अपने ही हाथ में है, दूसरा हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, धर्म से मनुष्य की उन्नति होती है और पाप से विनाश, शत्रु के प्रति भी मैत्री भाव रखना चाहिए, किसी का बुरा नहीं करना चाहिए; इतना ही नहीं, उसका बुरा हो ऐसा चिंतन भी नहीं करना चाहिए, सत्य-अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करना चाहिए आदि बातें मनुष्य को अपने

जीवन विकास के लिए करनी चाहिए। इन नीति तत्त्वों को सभी धर्मों ने समान रूप से स्वीकार किया है। हिंदू, मुसलमान, क्रिश्चियन, बौद्ध, जैन किसी धर्म ने इन नीति तत्त्वों का विरोध नहीं किया, बल्कि उल्टे कहा है कि जो इन तत्त्वों को भंग करेगा, उसे सजा भुगतनी होगी।

जानना (अनुभूति)

इस विपश्यना शिविर के प्रारंभ में ही १० दिन के लिए शील-व्रत लेने का नियम है। शीलव्रत यानी सत्य, अहिंसा आदि महाव्रतों के पालन का नियम। ऊपर बताये गये सभी नीति-नियमों पर शिविर में रात-दिन जोर दिया जाता है। लेकिन शास्त्रों में और इस साधना में एक बड़ा फरक है। इन नियमों के भंग होने पर मनुष्य को जो सजा मिलती है वह शास्त्रों के अनुसार कोई अदृश्य शक्ति द्वारा वह दी जाती है और वह भी मरने के बाद। इस साधना में बताया जाता है कि भले-बुरे कर्मों का परिणाम (सजा या इनाम) इसी जन्म में, इसी शरीर में और वह भी अविलंब मिलता है। यहां तक कि भला-बुरा कर्म करने से पहिले चित्त में जो भले-बुरे विचार आने लगते हैं, उनके आते ही हमारे चित्त में अशांति, व्याकुलता या शांति, समाधान का अनुभव होने लगता है। शरीर में होने वाले इस परिवर्तन को विशेष रूप से देखने की साधना ही विपश्यना साधना है। इस साधना का गहरा अभ्यास होने के बाद शरीर में होने वाली सूक्ष्म संवेदनाओं को भी जाना जा सकता है। सृष्टि का यह सनातन विधान है कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा मिलता ही है। आज तक शास्त्र वचनों के आधार पर इस सनातन नियम को श्रद्धापूर्वक मानते आये हैं। फिर भी मानने और जानने में फर्क होता है। दूसरों की अनुभूति की बात 'मानना' है और अपनी अनुभूति की बात 'जानना' है। यदि भले-बुरे परिणाम अपने चित्त पर होते ही उन्हें देख सकें तो निश्चित ही समझना चाहिए कि पुण्य कर्मों में प्रवृत्ति और पाप कर्मों से निवृत्ति सहज भाव से होने लगेगी। यह पूरी साधना शील, समाधि और प्रज्ञा पर आधारित है।

चित्त की समता

आज विज्ञान की दुनिया में शास्त्र वचनों पर श्रद्धा कम होती जी रही है। जमाने की मांग है कि उसे प्रत्यक्ष दर्शन हो, खुद को अनुभूति हो। अतः आज की दुनिया के लिये यह विपश्यना साधना बहुत ही समयानुकूल माननी चाहिये। भगवान बुद्ध के शब्दों में इसे दुःख-निवारण की साधना कहना चाहिए। दुःख का साक्षात्कार और दुःख-निवारण का साक्षात्कार, ये सारी बातें विपश्यना साधना में

समायी हैं। दस दिनों तक जो साधना सिखाई जाती है उसमें बार-बार इस बात पर जोर दिया जाता है कि चित्त को समता में स्थित रखा जाय। यह शरीर तरंगों का बना हुआ है। ये तरंगें क्षण-क्षण में अनगिनत बार उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं। कोई संवेदना टिकने वाली नहीं होती। दुःख की संवेदना आवे तो उससे द्वेष न किया जाय और यदि सुख की संवेदना आवे तो उससे राग या चिपकाव न किया जाय, क्योंकि दोनों ही बदलने वाली हैं। हर प्रकार की संवेदना को तटस्थ द्रष्टा-रूप में देखने का अभ्यास किया जाय और चित्त को समता में स्थापित रखा जाय, यह इस साधना का केंद्र-बिंदु है। जब तक चित्त की समता न सधे तब तक साधना सफल नहीं मानी जाती। चित्त की समता सधेगी तभी चित्त की शुद्धि भी होगी। चित्त की शुद्धि होने पर ही वीतराग, वीतद्वेष या वीतमोह स्थिति आ सकती है। चित्त शुद्धि के साथ-साथ शरीर शुद्धि भी होती है और जाने अनजाने अनेक रोगों से छुटकारा मिलता है लेकिन यह साधना का गौण भाग माना जायगा। मुख्य लक्ष्य तो चित्त की शुद्धि और चित्त का समता में स्थापित होना है। इस साधना में चमत्कार को स्थान नहीं है। चमत्कार की कोई अनुभूति आवे भी तो उसे छोड़कर अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी है, ऐसी भावना रखी जाय।

साधना

प्रत्यक्ष साधना के बारे में थोड़ी जानकारी देना ठीक रहेगा इस साधना में ध्यान केंद्रित करने के लिए सहज चलने वाले श्वास का आधार लिया जाता है। किसी शब्द या मूर्ति का आधार लेने में कृत्रिमता आ सकती है और किसी पंथ से भी बँध सकते हैं। श्वास सहज है, यथार्थ है उसका सीधा संबंध मन से और विकारों से है और यह किसी संप्रदाय विशेष का प्रतीक नहीं है। श्वास भी जैसा चलता है वैसे ही चलते रहने देना है। केवल द्रष्टा रूप से देखते रहना है। प्राणायाम आदि की तरह श्वास में कोई बदल या रोक-टोक नहीं करनी है। दोनों नाकपुड़ी (नाशिका छिद्रों के आसपास) और ऊपर के ओठ का ऊपरी हिस्सा, इस त्रिकोण की जगह ध्यान केंद्रित पर श्वास के आने-जाने पर तथा उसके छूने पर निरीक्षण करते रहना है। प्रथम तीन दिन में चित्त एकाग्र होने लगता है। चौथे दिन विपश्यना-ध्यान सिखाया जाता है जो दसवें दिन तक चलता है। विपश्यना यानी विशेषरूप से देखना, चित्त के एकाग्र होने पर शरीर के हर अंग पर ध्यान केंद्रित करना होता है। ध्यान केंद्रित होने पर हर अंग में संवेदनाएं प्रकट होने लगती हैं यानी जहां चित्त पहुँचा वहीं से संवेदना द्वारा रिस्पांस मिला। इन संवेदनाओं में कई सुखद और कई दुःखद होंगी। उन पर तटस्थ की भांति नजर रखना और चित्त की समता बनाये रखना होता है। धीरे-धीरे अभ्यास से इस साधना द्वारा चित्त को

एकाग्र किया जाता है। चित्त का स्वभाव अत्यंत चंचल होता है। यह जानकर उसे चोटी से एड़ी तक निरीक्षण करते हुए ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाने में लगाया जाता है ताकि वह नीचे-ऊपर ही घूमता रहे, इधर-उधर न भटके। ओठ, तालु और हृदय ये तीन ध्यान के मुख्य केन्द्र माने गये हैं। अंतिम दो दिनों में मैत्री भावना में मैत्री भावना सिखाई जाती है।

तात्त्विक भूमिका

जहां तक नीति तत्त्वों का सवाल है ये सभी धर्मों में समानरूप से श्रेष्ठ माने गये हैं। लेकिन अंतिम लक्ष्य में कुछ भेद हैं। कई पंथ आत्मा को ही कर्ता-धर्ता मानते हैं। कई ईश्वर को मानते हैं। यहां पर इस विवाद में नहीं पड़ते और न किसी का निषेध करते हैं। जिसको जो मानना हो माने। समाज में ९९ प्रतिशत लोगों के जीवन के लिए तो नीति तत्त्वों का विचार पर्याप्त होता है। कुछ ऐसे हो सकते हैं जो अंतिम लक्ष्य को, केवल ज्ञान को जानना चाहें। उनके लिए भी यह विपश्यना चित्तशुद्धि करवा कर आगे का मार्ग सुगम कर देती है।

पृष्ठभूमि

भगवान बुद्ध ने सम्बोधि प्राप्त करने के लिये जो साधना की और अपने समुदाय को सिखायी, वही यह विपश्यना साधना है। सम्राट अशोक के समय दो सन्तों द्वारा ले जायी गयी यह साधना ब्रह्मदेश में लगभग दो हजार साल से मूलरूप में सुरक्षित रही। इसी साधना की परंपरा में गोयन्काजी के गुरु सयाजी ऊ बा खिन थे। उनसे यह साधना गोयन्काजी को प्राप्त हुई। गोयन्काजी को भयंकर सर-दर्द की बीमारी थी जो देश-विदेश के डाक्टरों के इलाज से भी दूर नहीं हो सकी थी। वह इस साधना से दूर हुई और उनके चित्त को शांति समाधान मिला। सतत १४ साल तक गुरूजी के पास गोयन्काजी ने इस साधना का अभ्यास किया है और पिछले छह साल से जन कल्याण की दृष्टि से भारत की जनता को साधना का लाभ दे रहे हैं।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ आश्विन पूर्णिमा दि. २०-१०-७५ अंक ४)

धन्य विपश्यना!

हरिबक्ष गाड़ोदिया

राजस्थान के गृह आयुक्त श्री रामसिंहजी की प्रेरणा से जयपुर सेंट्रल जेल में गत माह एक अनूठा प्रयोग किया गया। समाज के वे तिरस्कृत व्यक्ति जिन्हें हम चोर, लुटेरे , डाकू, लफंगे वगैरह के नाम से पहचानते हैं, उनके बाह्यान्तरिक विकास के लिए जेल में ही १० दिन का एक साधना शिविर लगाया गया जो विपश्यना के नाम से प्रसिद्ध है। श्रद्धेय गुरुजी श्री सत्यनारायण गोयन्का ने इसका संचालन संपादन किया।

दूसरा शिविर आज-कल यूनिवर्सिटी-प्रांगण में चल रहा है जिसमें शहर के जौहरी, व्यापारी, सरकारी अफसर, समाज-सेवक, शिक्षक एवं विदेशी पुरुष-महिलाएं सम्मिलित हैं जो भारत का सच्चा धर्म समझने की जिज्ञासा रखते हैं। यह विपश्यना साधना क्या है जो चोर और साहूकार दोनों के लिए बराबर उपयोगी है।

आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध ने सांसारिक दुःख के निवारण हेतु जो अंतिम साधना की, जिससे उन्हे बुद्धत्व प्राप्त हुआ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति की, उसी साधना का नाम है 'विपश्यना'। गुरु-शिष्य परंपरा पर टिकी इसी साधना की शिक्षा-दीक्षा देने गुरुजी जयपुर पधारे हैं। विपश्यना कोई रहस्यमय साधना नहीं है। न ही यह कोई चमत्कारी मंत्र है जिसका जाप करने से निर्वाण हो जाय। न यह बुद्धि-विलास है, न कोई कर्मकांड की रूढ़ि है। यह तो सत्य साधना है जो प्रत्येक मानव को अपने मोक्ष के लिए स्वयं ही करनी पड़ती है।

राजकुमार सिद्धार्थ ने देखा कि दुनिया में सर्वत्र दुःख है। जन्म-दुःख, व्याधि-दुःख, जरा-दुःख, मृत्यु-दुःख। अनचाही के होने का दुःख, मनचाही के न होने का दुःख। इसके कारण एवं निवारण की खोज में वे राजमहल, पुत्र, कलत्र सब कुछ छोड़कर निकल पड़े। वर्षों कठोर तपस्याएं कीं। अंत में जिस साधना द्वारा उन्हें बोधि-तत्त्व प्राप्त हुआ, उसी का नाम है– विपश्यना।'

'पश्य' यानी देखना। 'विपश्यना' यानी विशेष प्रकार से देखना। अथवा विशिष्ट दृष्टि द्वारा विशिष्ट दर्शन। आज तक हम बाह्य संसार को ही देखते रहे और उसी से प्रभावित होकर सुखी-दुःखी होते रहे। मनुष्य या तो भूतकाल की कड़वी स्मृति में उलझकर पछताता रहता है। या भविष्य की कल्पनाओं में उलझा रहता है। एक ओर वह 'मुझे' यह चाहिए, वह चाहिए, में फंसा रहता है तो दूसरी ओर 'मुझे यह नहीं चाहिए, वह नहीं चाहिए' में संलिप्त। विपश्यना करने वाला

साधक भूत-भविष्य, चाहिए-नहीं चाहिए– दोनों ही स्थितियों में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को समझ, अंतर्मुखी हो अपने आप को देखना सीखता है। भूत भविष्य को त्याग कर वह वर्तमान में जीने की कला सीखता है। यही सत्य दर्शन है। आत्मदर्शन, आत्मज्ञान यानी अपने आपको जानना, पहचानना है हम वर्तमान में जैसे हैं, वैसे हैं– न कम, न ज्यादा।

साधक 'आना-पान सति' से अपनी साधना आरंभ करता है। इसका अर्थ है श्वास आने-आने की प्रक्रिया पर जागरूक रहते हुए मन को एकाग्र करना। नासिका का अग्रभाग, ओठ का ऊपरी हिस्सा, जहां से श्वास आता-जाता है, इसी त्रिकोण पर मन को लगाये हुये श्वास को देखना। हर क्षण श्वास आता है, जाता है, इस सत्य पर चित्त को टिकाना है। मन भागता है, कोई चिंता नहीं, भागना उसका स्वभाव बन गया है। बिना निराश हुए पुनः जागरूक होकर चित्त को बराबर एकाग्र करने से वह टिकने लगेगा।

श्वास का शरीर में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भौतिक शरीर श्वास पर ही टिका है। यह सतत् अनायास चलता रहता है और प्रयासपूर्वक भी चलाया जा सकता है। अनायास चलने वाले श्वास के प्रति जागरूक रहकर ही मन को एकाग्र करना है। मन की एकाग्रता हेतु साधना में नाम-रूप जोड़ देने से सफलता शीघ्र संभव है। पर इनमें अनेक अड़चने हैं, खतरे हैं।

जब-जब साधना में नाम-रूप जोड़ा गया, एक नया संप्रदाय उत्पन्न हुआ। दूसरे कालांतर में आंतरिक नाम-रूप के योग से मन बहिर्मुखी ही रह जाने का बड़ा खतरा है।

दूसरी ओर कल्पना पर आधारित निराकार की उपासना साधारण साधक के लिये संभव नहीं। निराकार उपासना में भटकने की अधिक संभावना है। अतः श्वास का आधार ही वैज्ञानिक और सर्वमान्य है। यह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध , जैन, सबको बराबर ग्राह्य है।

आना-पान द्वारा साधक मन को जागरूक रख कर एकाग्र करते-करते साधना की दूसरी सीढ़ी पर चढ़ता है और वह है– विपश्यना। विपश्यना द्वारा वह अपने समूचे स्थूल शरीर को देखने की कला सीखता है। शरीर पर होने वाली विभिन्न संवेदनाओं और उनके कारण होने वाली मानसिक प्रतिक्रियाओं को देखना सीखता है। स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम शरीर को देखने लगता है। न भावी सत्कर्मों से राग है, न भूत के दुष्कर्मों से द्वेष। अपने आपको ही देखना, राग-द्वेष रहित दृष्टाभाव से। विपश्यना– यही सतत स्वच्छ निर्मल बनने की विधि है।

विपश्यना कोई दार्शनिक सिद्धांत निरूपण नहीं है। इसको पढ़ कर, सुन कर, लिख कर कोई साधक नहीं बन सकता। गुरुजी इसको कोरा बुद्धि-विलास कहते हैं। सिर्फ पांडित्य झाड़ने से कोई निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। यह तो तलवार की धार है। वह मार्ग है जिस पर स्वयं चलते रहने से ही साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसमें घर बार छोड़कर भिक्षु बनने की बात भी नितांत अनिवार्य नहीं है। गृहस्थ रहते हुए पति-पत्नी दोनों को साधना करनी है। संसार में रहते हुए भी इससे निर्लिप्त। अपनी संवेदना, अनुभूति को जानना, देखना है, उसमें लिप्त नहीं होना है। साक्षीभाव से देखना है, उसमें लिप्त नहीं होना है। साक्षीभाव से देखना ही विपश्यना है। जल में कमलवत।

विश्व विद्यालय में अब इस पर शोध चला है। देश में सर्वत्र इसकी चर्चा है। यह कौन सा मार्ग है जिसे अपना कर खूनी या व्यापारी यानी आम नागरिक अपना भला कर सकता है? गुरूजी के आश्रय में डाकू और व्यापारी साथ बैठते हैं। जैसे बकरी और शेर एक घाट पर पानी पीते हों। व्यापारी अपना भय छोड़कर, खूनी अपनी हिंसा छोड़कर। बुद्ध के समय खूंखार अंगुलिमाल ने, जिसने ९९९ मानव हत्याएं की, आम्रपाली ने, जो जनपद-कल्याणी होने के कारण भोग वासना में संसार को प्रवृत्त करना ही अपना धर्म समझती थी, बुद्ध के संपर्क में आकर, विपश्यना साधना कर निर्वाण मार्ग प्राप्त किया। आज हमारा भी सौभाग्य है कि वही सच्ची साधना सीखने का गुरुजी के सान्निध्य में हमें मौका मिला है।

बुद्ध का कोई संप्रदाय नहीं है। अगर आज बुद्ध का कोई संप्रदाय है तो उससे हमें कोई लेना-देना नहीं। हमें तो सिर्फ उस साधना से संबंध है जिससे मनुष्य मुक्त हो सकता है। निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बोधितत्त्व जान सकता है। अपना, समाज और संसार का भला कर सकता है। सबका भला कर सकता है। सतत जागरूक रहकर, मन को एकाग्र करके, राग-द्वेष छोड़ना, दुष्कर्मों का त्याग करना और सत्कर्मों का विकास करना ही विपश्यना है।

यही कारण है कि पिछले ६ वर्षों में भारत के और विदेशों के विभिन्न संप्रदायों के हजारों लोगों ने सहजभाव से विपश्यना का लाभ लिया है। हिन्दू संन्यासियों, बौद्ध भिक्षुओं, जैन मुनियों और साध्वियों, ईसाई पादरियों और साध्वियों को इस सार्वजनीन विपश्यना का अभ्यास करने में कहीं कोई हिचक नहीं हुई। विपश्यना के शिविर हिंदू मंदिरों में लगे, इसाई गिरजाघरों में लगे, मुस्लिम मस्जिदों में लगे, जैन उपाश्रयों में लगे और बौद्ध विहारों में लगे और सर्वत्र सहज स्वीकृत हुए।

धन्य है विपश्यना जो परस्पर विरोधी विभिन्न मत-मतांतरों के लोगों को, धनिकों और निर्धनों को, शोषक को और शोषित को, शिक्षित को और अशिक्षित को, कातिल को और निरपराध को, एक ही धरातल पर बैठकर शुद्ध धर्म की अमृत रस की घूंटी पिलाती है और सब का मन निर्मल कर उन्हें शांतिलाभ देती है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ कार्तिक पूर्णिमा दि. १८-११-७५ अंक ५)

विपश्यना : जीवन जीने की कला

(आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का द्वारा सूचनाकेन्द्र अजमेर में दि. ३० सितम्बर, ७५ को दिए गए सार्वजनिक प्रवचन का सारांश)

संग्राहक; श्री रामेश्वरदास गर्ग

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल।
जन जन के हित के लिए, धर्म वचन ही बोल॥

शांति व चैन किसे नहीं चाहिए जबकि सारे संसार में अशांति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है? शांतिपूर्वक जीना आ जाय तो जीने की कला हाथ आ जाय। सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपूर्वक जीएं तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्रदाय धर्म नहीं है। संप्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें! धर्म कैसे शांति देता है?

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते हैं? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारों से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध होकर हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है जिससे हममें क्रोध, ईर्ष्या, भय इत्यादि आयें ही नहीं और आयें भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें।

आखिर ये विकार क्यों आते हैं? अधिकांशतः किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रियास्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो? नहीं, यह किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियां आती ही रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद हम अपने मन को शांत व संतुलित रख सकें। रास्ते में कांटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें। तेज वर्षा-धूप आयेगी ही, बचाव इसी में है कि हम छाता तान कर चलें। यानी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें।

सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बन कर रहूं। यहां एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानी उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है? इसका कारण मुझमें यानी मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग, द्वेष, मोह आदि की गांठें हैं जिन पर उक्त घटना का आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अंतर्मन परम शुद्ध है उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती। परंतु प्रश्न यह है कि जब तक अंतर्मन परम शुद्ध नहीं हो जाता तब तक क्या किया जाय? मन में पूर्व संचित संस्कारों की गंदगियां तो हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का संपर्क होते ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें। किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में। यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परंतु यह सही उपाय नहीं है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अंदर का अचेतन, अर्द्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर ही भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गांठें बांधता जाता है। भविष्य में जब कभी ये गांठें उभर कर चेतन मन पर आयेंगी तब और अधिक अशांति और बेचैनी पैदा करेंगी। अतः पलायन करना समस्या का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व इसी देश में भगवान गौतम बुद्ध ने की और लोगों के कल्याण के लिए इसे सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। किसी भी घटना के कारण जो भी विकार जागे उसे यथावत देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है उसे वैसा ही देखें। देखते रहें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जायगी। परंतु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है उस समय हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चाताप करते हैं परंतु दूसरी बार वैसी

परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं। वस्तुतः क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चाताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आये तब तो सोये रहें, परंतु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगायें तो इससे क्या लाभ? निकल भागने के बाद उस सांप की लकीर पीटते रहें तो क्या लाभ? विकार जागने पर होश कौन दिलाये? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप में कोई सहायक रखे? यह संभव नहीं है। और मान लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐन मौके पर उस सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिए तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है वही आलंबन बार-बार मन में उभरता है और आग में घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक और बड़ी समस्या यह है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाय?

अतः हमारे सामने दो समस्याएं हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हों? और दूसरी यह कि सचेत हो जायँ तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन में कोई विकार जागता है तब एक तो सांस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती है और दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी न किसी प्रकार की जीव-रासायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को देखने का अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वतः क्षीण होते-होते निर्मूल होने लगता है। सांस को देखने का अभ्यास 'आना-पान सति' कहलाता है और शरीर में होने वाली जीव-रासायनिक प्रतिक्रियाओं को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास 'विपश्यना' कहलाता है। दोनों एक-दूसरे से गहरे रूप से संबद्ध हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाय तो किसी भी कारण जब मन में विकार उठे तो पहला काम यह होगा कि सांस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रासायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चित्तधारा में कोई विकार जाग रहा है। सांस और इस सूक्ष्म संवेदना को देखने लगें तो स्वभावतः उस समय के उठे हुए विकार का उपशमन, उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपनी सांस के लेने और छोड़ने

को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रासायनिक या विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय विकार उत्पन्न करने वाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है। ऐसा होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है। क्योंकि अंतर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा कर दी उस सच्चाई को अभिमुख होकर देख रहे हैं। सतत अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नहीं पाते या चलते भी हैं तो पत्थर की लकीर की तरह के संस्कार गहरे अंकित नहीं हो पाते। बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का-सा संस्कार बनता है जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दु:खदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अंतर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है। अत: काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देख कर उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाय ताकि वह अधिक लंबे अर्से तक चल कर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कहीं ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़क कर उस आग को बढ़ावा दे दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है। जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को ऋत कहते हैं। हम उसे ही धर्म कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शांति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जान कर विकारों से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है। परंतु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय यानी धर्म को धारण करने के बजाय हम उसे वाद-विवाद का विषय बना कर सिद्धांतों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धिविलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ा कर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धांतों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, 'स्व' का निरीक्षण करे। अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देख कर बुझाए। यही सम्यक दर्शन है। यही

'स्व' का निरीक्षण है। ज्ञान-चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रह कर यथावत सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धिविलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक-स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है। परंतु वास्तविक लाभ अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत न होने दें, सदा सचेत रह कर 'स्व' का निरीक्षण करते रहें। यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मांतरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ीं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धांतिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का शिविर ही काफी है। सतत अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता। दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। आदर्श जीवन का आधार पुष्ट होता है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल, निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में दो हजार पांच सौ वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों एवं आसक्ति भरे तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतर सकने की एक मंगल विद्या प्राप्त हुई। अब विगत पांच वर्षों से भारत में रह रहा हूं। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र संपदा है। किसी भी कारण से यहां विलुप्त हो गयी। मैं तो भागीरथ की तरह इस खोयी हुई धर्म-गंगा को ब्रह्मदेश से यहां इस देश में पुनः ले आया हूं और जिसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूं।

याद करता हूं कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुःखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुख-मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ।

इसलिए जी चाहता है कि अधिक से अधिक लोग जो अपने विकारों से विकृत हैं और इसलिए दुःखी हैं वे इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुःख-मुक्त होकर सुखलाभी हों। याद करता हूं कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुःखी होता था तो अपना दुःख अपने तक सीमित न रख कर औरों को बांटता था। औरों को भी दुःखी बनाता था। उस समय मेरे पास बांटने के लिए दुःख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याणकारी विधि द्वारा जितना-जितना विकारों से उन्मुक्त हुआ और फलतः जो भी यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बांटूँ। इसे बांटने पर सुख-संवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इन दस दिन के शिविरों में लोग अक्सर मुरझाये हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समाप्ति पर खिले हुए चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-संतोष से भर उठता है। अधिक से अधिक लोग इस मंगलकारी विधि का लाभ उठा कर सुखलाभी हों, अधिक से अधिक लोगों का भला हो कल्याण हो! मंगल हो! यही धर्मकामना है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ मार्गशीर्ष पूर्णिमा दि. १८-१२-७५ अंक ६)

विपश्यना साधना शिविर

केन्द्रीय कारागृह जयपुर

प्रायः अपराध का आरंभ मानसिक तनाव एवं मन की मलीनता है। जेल के अपराधियों को यह तनाव कम करने की कोई सुविधा नहीं मिलती और यही उनके मन की निरंतर अशांति का कारण बनता है। कारागार जीवन का मुख्य उद्देश्य बन्दियो को एक संभ्रान्त व्यक्ति के रूप में समाज को वापिस देना है। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर केंद्रीय कारागार, जयपुर में 'विपश्यना' साधना शिविर का आयोजन किया गया जिसके द्वारा उसमें भाग लेने वाले बन्दी अपने मन की मलीनता को दूर करके मानसिक तनाव से छुटकारा पा सकें। यह साधना २५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध के स्वानुभव की उपज है। उन्होंने इस विधि को समस्त प्राणियों के कल्याण एवं मंगल के लिए समाज के सम्मुख रखा था जिसे सहज ही अपनाकर हर व्यक्ति शुद्ध धर्म का जीवन जी सकता है। यह साधना विधि व्यक्ति पूजा अथवा सांप्रदायिकता, अन्य भक्ति और अंधविश्वासों से दूर तथा एक युक्तिसंगत एवं वैज्ञानिक विधि है। 'विपश्यना' का शाब्दिक अर्थ है विभिन्न प्रकार से या विशेष रूप से देखना। अर्थात स्व-संवेदना का अनुभव करना ही विपश्यना है। यहां चर्म चक्षुओं से देखने का अभिप्राय नहीं है। मन की आंखों से यथार्थ अनुभव करना है यानी जो वस्तु या स्थिति जैसी है, उसे वैसी ही देखना और अनुभव करना है। यह साधना चित्त की समता बनाये रखती है।

इस शिविर का आयोजन दिनांक २७-९-७५ से ७-१०-७५ तक आचार्य श्री सत्यनारायण गोयन्का के नेतृत्व में हुआ। श्री गोयन्का मूल रूप से राजस्थान के निवासी थे और अब ब्रह्मदेश के नागरिक हैं। उन्होंने यह साधना पद्धति अपने गुरु श्रद्धेय ऊ बा खिन से प्राप्त की थी।

साधना शिविर के महत्त्व को देखते हुए इनके लिए बंदियों का चयन किया गया। इसमें विभिन्न अपराधों से संबंधित विभिन्न आयु के चुने हुए बंदी लिए गए जिनकी ग्रहण करने की क्षमता के बारे में जेल अधिकारियों को पूर्ण संतोष था। इस बात का पूर्ण ध्यान रखा गया कि बंदी इस साधना शिविर में स्वेच्छा से भाग लें और उन पर किसी प्रकार का दबाव न हो। शिविर के लिए चयन के पूर्व उनकी भूमिका एवं मनोदशा की जानकारी के लिए प्रश्नावली द्वारा प्रत्येक बन्दी का अध्ययन किया गया। इस कार्य के लिए राजस्थान विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग के अध्यक्ष डा. यूनिथान के अतिरिक्त अन्य समाज सेविका, श्रीमती डॉ

स्वर्ण हूजा का सहयोग भी प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त मुंबई विश्वविद्यालय के कॉलेज ऑफ सोशल वर्क की रिसर्च स्कॉलर कुमारी कुसुम शाह का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इन बंदियों की वर्तमान मनोदशा तथा शिविर के पश्चात् उसमें आवश्यक परिवर्तन के संबंध में शोध प्रतिवेदन शीघ्र ही प्रस्तुत हो जायगा।

शिविर में कुल ११४ बन्दियों तथा जेल विभाग के ६ कर्मचारियों ने भाग लिया। उक्त संख्या में १० महिलाएं भी थी। शिविर की अवधि में बंदियों को अधिक से अधिक खुला वातावरण देने का प्रयास किया गया और इसके लिए उन्हें जेल बैरकों से बाहर निकालकर विशेष रूप से सुधारे हुए कक्षों में रखा गया जिनमें सभी प्रकार की आवश्यक सुविधाएं प्रदान की गईं। यह भी ध्यान में रखा गया कि साधना की अवधि में उन्हें इस प्रकार का सादा एवं सात्त्विक आहार दिया जाय, जिससे उनके मन की स्थिति साधना के उपयुक्त बन सके। साधना शिविर में भाग लेने वाले बंदियों को निम्न प्रकार से आहार दिया गया:–

प्रातःकालीन नाश्ता: दलिया एवं दूध, दोपहर का भोजन: गेहूं की चपाती, दाल, सब्जी, चावल एवं मोठ। सायंकालीन नाश्ता: एक कप चाय, भीगे हुए चने एवं मोठ। रात्रि भोजन: एक गिलास दूध एवं फल।

साधना शिविर के बंदियों के स्वास्थ्य की जांच, मानसिक स्थिति एवं रक्तचाप भी नोट किया गया ताकि शिविर के बाद होने वाले परिवर्तनों से इसकी तुलना की जा सके।

साधना शिविर की अवधि में शिविर का वातावरण अत्यंत प्रभावशाली रहा। बंदियों ने इसमें अत्यंत रुचि एवं लगन व श्रद्धा से भाग लिया और गंभीर प्रवचनों का भी अत्यंत गंभीरतापूर्वक मनन किया। प्रवचन के दौरान कुछ अतिथियों को भी प्रवचन सुनने की अनुमति प्रदान की गई और आगंतुक सभी व्यक्ति उस अभूतपूर्व एवं पवित्र वातावरण का अनुभव करते थे जो कि साधना की अवधि में जेल में विद्यमान था।

शिविर दि. २७-१०-७५ को प्रातःकाल समाप्त हुआ। तत्पश्चात सभी बंदियों से संपर्क स्थापित करके उन पर साधना के प्रभाव का अध्ययन किया गया। बंदियों पर इस प्रभाव के मुख्य बिंदु निम्न लिखित हैं:–

१. बंदियों के रक्तचाप अधिक होने की शिकायत थी, उनका रक्तचाप साधारण स्थिति में आ गया और सभी बंदी पूर्णरूप से स्वस्थ रहे।

२. सभी बंदियों ने यह अनुभव किया कि उनके मानसिक तनाव में बहुत कमी हुई थी और वे मन में पूर्व की अपेक्षा अधिक संतोष एवं शांति का अनुभव कर रहे थे।

३. बंदियों के व्यवहार में भी परिवर्तन स्पष्ट था। जेलअपराधों में एकदम कमी आ गई और बंदियों का पारस्परिक झगड़ा तथा अन्य प्रकार का वैमनस्य आदि लगभग समाप्त हो गया।

४. धुम्रपान करने वाले अधिकांश बंदियों ने धुम्रपान करना छोड़ दिया।

५. जिन बंदियों के सिर दर्द, पेट दर्द, श्वास, कब्ज आदि साधारण बीमारियां थीं, उन्होंने बताया कि वे पूर्णरूप से स्वस्थ हैं।

६. बंदियों में पारस्पारिक मनोमालिन्य का अभाव देखा गया।

७. साधना शिविर के बाद बंदियों की कार्यक्षमता में बृद्धि हुई। उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य एवं जेलउद्योग उत्पादन में भी वृद्धि हुई।

८. कुछ बंदियों ने अपने अनुभव लिखकर भी दिए जिनमें मुख्य निम्न प्रकार हैं।

१. उनके मन की द्वेष भावना, चिंता समाप्त हो गई है। उनके मन की अशांति एवं मन में उठने वाली बुरी भावना कम हो गई है और अब उन्हें दु:स्वप्न भी नहीं आते। वे अनुभव करते हैं कि यदि मन में इस प्रकार की शांति रही तो अपराध होना संभव नहीं है।

२. कुछ बंदियों ने बताया कि इस शिविर के पूर्व उन्हें अपने अपराधों के लिए निरंतर दु:ख एवं प्रतिशोध होता था, अब मन में शांति है। वे भविष्य में अपना जीवन शांति एवं शुद्धतापूर्वक व्यतीत करने के लिए कृत संकल्प हैं। उनकी अरुचि, सुस्ती आदि का उन्हें आभास नहीं होता, उनका मन काम में अधिक लगता है।

३. बंदियों ने यह मांग की कि इस प्रकार के साधना शिविर में भाग लेने का उन्हें बराबर अवसर मिले। जिन बंदियों ने साधना में भाग नहीं लिया किन्तु उन्हें केवल प्रवचन सुनने की अनुमति दी गयी थी, उन्होंने यह बताया कि प्रवचनों का उन पर प्रभाव पड़ा है और वे यह चाहते हैं कि ऐसे अवसर उन्हें भी प्रदान किये जायँ।

गणेश नारायण व्यास,
सदस्य सचिव।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ पौष पूर्णिमा दि. १७-१-७६ अंक ७)

उद्‌बोधन : सुख बांटें

मेरे प्यारे साधक / साधिकाओ!

आओ, अपना सुख बांटें!

हमने जीवन भर लोगों को कितना दुःख बांटा है रे! कितना दुःख बांटा है रे!

अपनी ही मूर्खता से जब-जब मन में विकार पैदा किया तब-तब मन को दौर्मनस्यता से ही तो भरा। और केवल मन से ही नहीं, वाणी और काया से भी ऐसे दुष्कर्म कर गये जिनसे लोग दुःखी हुए, संत्रस्त हुए, संतापित हुए। अरे! कितनों के दुखों का कारण बने हम! कितनों की व्याकुलता का कारण बने हम! दुःख ही दुःख तो बांटा लोगों को हमने!

अब अपना कोई पुराना पुण्य जागा और उसी की वजह से यह अनमोल धर्म, सार्वजनीन धर्म, संप्रदाय-विहीन धर्म, मंगलकारी धर्म रत्न पात्त हुआ। इस धर्म संपत्ति ने कितना संपन्न बना दिया हमें! कितनी विपन्नता धुल गई हमारी! कितने विकारों से मुक्ति मिली हमें! कितने दुःखों से छुटकारा मिला हमें! अप्रिय से अप्रिय परिस्थिति में भी मुस्कराना आ गया हमें। मन में सब के प्रति अनंत मैत्री और करुणा की उर्मियां लहराने लगीं। जीवन धन्य हो उठा। अरे, यही तो सुख है! यही तो सच्चा सुख है!!

आओ, बांटें ऐसा सुख सबको। ऐसा सुख तो सब को मिले। ऐसा धर्म तो सबको मिले। जगत में कोई क्यों दुखियारा रहे? सब अपने-अपने विकारों से मुक्त हो जायँ, सब के मन की गांठें खुल जायँ। सब के मन की मलीनता दूर हो जाय। सभी निर्बैर हों, सभी निर्भय हों! सभी निरामय हों! सभी निर्विकार हों! सभी निष्पाप हों! सभी निर्वाणलाभी हों!

इसीलिए आओ, सद्धर्म के प्रति असीम कृतज्ञता का भाव रखते हुए, अनन्य निष्ठा का भाव रखते हुए, प्राणियों के प्रति असीम मंगल मैत्री रखते हुए, आओ! अपने भले के लिए भी और जन-जन के भले के लिए भी हम सभी मिलकर अपनी सम्मिलित शक्ति लगाएं और ऐसा जीवन जीएं जिससे अधिक से अधिक लोग सद्धर्म की ओर आकर्षित हों! अधिक से अधिक दुखियारे लोग इस सद्धर्म-रस का पान कर सकें और अपने-अपने दुःखों से मुक्त हो सकें! इस निमित्त उनकी जितनी सेवा कर सकें, करें! उन्हें जितनी सुविधा प्रदान कर सकें, करें! जितनी सहूलियतें प्रदान कर सकें करें उन्हें सही माने में सुखलाभी बनाएं!

आओ, साधको! अपना सुख बांटें लोगों को। इसी में हमारा भी तो सुख समाया हुआ है।

---o---

विपश्यना की प्रगति हेतु शुभ-संदेश

हम यह ही मंगल कामना करते हैं कि हमारे देश में व अन्य सभी देशों में मानव विकास तथा विपश्यना द्वारा अंतःकरण को जानने के सबल प्रयास व कर्म-कार्यान्वयन होते रहें ताकि प्रत्येक राष्ट्र के भावी नागरिक आदर्श मानव का चरित्र पेश कर सके और कोई भी इंसान जहालत की जिंदगी व्यतीत नहीं कर सके। प्रत्येक नागरिक अपने दुर्गुणों से मुक्ति प्राप्त करते हुए बतौर अराजकताबाद, अशुद्धता, प्रतिक्रियाबाद, प्रतिस्पर्धा की भावना, हत्याएं, जुल्म, शोषण, लूट, भ्रष्टाचार अन्याय, धोखाधड़ी, बलात्कार, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, रिश्वतखोरी आदि सभी बुरे कर्मों से छुटकारा पा सके। इंसान इंसान से प्रेम करे। यह तब ही हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य विपश्यना प्रारंभ करे। सच्ची लगन से अपने आप में मनन करे। तब ही मानव का उद्धार हो सकता है।

मैं तो यह ही कहूंगा कि उन मर्जों की अगर सबसे अचूक औषधि है तो वह है विपश्यना। महामहिम आचार्यजी से मेरा यह ही अनुरोध है कि आप प्रत्येक देश में विपश्यना शिविर लगाएं। देश में प्रत्येक कारागृह में एवं आम जनता के बीच भी। मानव सुधार स्वयं अंतःकरण की मनुष्य द्वारा प्रबल खोज को निरंतर चालू रखें। इसी में सबका भला, सबका मंगल, सबका कल्याण। विपश्यना के बढ़ते हुए विकास की प्रबल इच्छाओं के साथ।

आपका साधक - मांगीलाल,
सजा - २० वर्ष
अपराध - हत्या (३०२)

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ माघ पूर्णिमा दि. १५-२-७६ अंक ८)

अभिनव प्रयोग!

साधुवाद के पात्र है 'सयाजी ऊ बा खिन ट्रस्ट' जिन्होंने कि विपश्यना विश्वविद्यापीठ के धर्मपूर्ण निर्माण और संचालन का दायित्व लिया है। साधुवाद के पात्र हैं वे सभी साधक जो कि इस निमित्त बिना किसी दबाव के, धर्म चेतना से ही अपना अनुदान भेज रहे हैं।

अनुदान के लिए प्रयोग किया गया थोड़ा सा भी दबाव धर्म संगत नहीं है। अतः त्याज्य है। क्या योजना है, उसका क्या उपयोग है और उस पर कितनी लागत कूती गयी है? इसकी सार्वजनिक जानकारी दे देना और सार्वजनीन अपील निकाल देना ही पर्याप्त है। इतना तो आवश्यक भी है। अन्यथा कुशल चेतना वाले कई दानी साधक, आवश्यक जानकारी के अभाव में इस सर्वजन-हितकारी पुनीत योजना में योगदान दे सकने से वंचित रह जायँगे। परंतु सूचना और अपील के बाद व्यक्तिगत दबाव अनावश्यक है, अनुचित है, पुण्य में बाधक है।

दानियों को दान का पुण्य लाभ मिलना ही चाहिए। सदियों के दुरुपयोग से पुण्य शब्द आज अपना सही अर्थ खो बैठा है। पुण्य शब्द की पुरातन परिभाषा है– ' सन्तानं वा पुनाति विसोधेतीत ति पुञ्ञं।' या जो कर्म चित्त-संतति (चित्तधारा) को पुनीत करे, विशुद्ध करे वही पुण्य है। दान वस्तुतः तभी पुण्य कर्म बनता है जबकि वह दाता की चित्त धारा को पावन बनाने में सहायक होता है। बेमन से, दुर्मन से, दबाव से, अनुरोध से, शर्म-संकोच से, भय से, अथवा प्रतिस्पर्धा से, कीर्ति-कामना से, लोकीय या परलोकीय फल की आकांक्षा से या जिस संस्था को दान दे रहे हैं उससे बदले में कोई विशिष्ट सहूलियत, पद या प्रतिष्ठा पाने की अपेक्षा से दिया गया दान मन को कलुषित ही करता है। अतः ऐसा दान पुण्य कर्म न होकर अपुण्य कर्म है।

कोई दबाव न हो, फिर भी दायक स्वतः स्फूर्त धर्म चेतना से दान दे तो ही ऐसा दान उसके लिए पुण्य का कारण बनता है। इस धर्म विद्यापीठ से अनेक लोगों को लाभ होगा, इसका संस्थापन और सम्यक संचालन होना ही चाहिए, ऐसी मंगल भावना दायक के मन में जागे तो ही उसका दान देना सार्थक है, सफल है। इसके विपरीत जहां देने के लिए दबाव होगा वहां आगंतुक साधक विद्यापीठ से दूर भागेगा, कतरायेगा और साधना सीखने के धर्मलाभ से भी वंचित रह जायगा, ऐसा मनुष्य स्वभाव है।

एक जातक कथा है। किसी तपस्वी की तप साधना में बड़ी बाधा उपस्थित

होने लगी। पूर्व काल का कोई अत्यंत स्नेही मित्र रोज उसके प्रति अपना चिपकाव प्रकट करे। तपस्वी तंग आ गया, परंतु उससे छुटकारा न पा सका। उसने अपनी समस्या अपने गुरु बोधिसत्त्व के सामने रखी गुरु ने कहा उससे पिण्ड छुड़ाना बड़ा सरल है। इस बार आए तो उसने अपने कानों में जो बहुमूल्य कुण्डल पहन रखे हैं वह माँग लेना। तब-तब खूब अनुरोध पूर्वक कुण्डल मांगने लगना। घबरा कर अपने आप आना बंद कर देगा। युक्ति काम कर गयी। सहज छुटकारा हो गया। न देने वाले को मांगना बड़ा अप्रिय लगता है। यह नियम सर्वत्र लागू होता है। अतः दबाव देकर न मांगना ही व्यवहार कौशल्य है, धर्म-कौशल्य है। धम्मगिरि पर लगने वाले शिविरों के लिए निर्धारित संख्या से व्यवहार-कौशल्य और धर्म-कौशल्य का शुभ परिणाम है। ट्रस्ट के शिव-संकल्प की सफलता की प्रथम किरण है।

आखिर इस विद्यापीठ की जरूरत किसे है? न ट्रस्टियों को, न शिक्षक को। यदि ऐसा हो तो इस धर्म-संस्था की स्थापना ही निकम्मी होगी। विद्यापीठ की जरूरत शिक्षार्थियों को होनी चाहिए, साधकों को होनी चाहिए। यदि साधकों को इसकी जरूरत महसूस होगी तो इसके निर्माण के लिए आवश्यक धन राशि उनकी ओर से बिना किसी दबाव के सहज भाव से आयगी ही। अन्यथा ऐसे साधना केन्द्र का निर्माण बे माने है जिसकी कि स्वयं साधकों को ही आवश्यकता न महसूस हो। अब तक सहज भाव से जो दान आया है उससे यही सिद्ध होता है कि साधकों ने इसकी आवश्यकता महसूस की है।

ट्रस्टियों ने एक ओर सराहनीय कदम उठाया है। अनमोल धर्म की शिक्षा अनमोल ही होती है। वह रुपयों से नहीं कूती जाती। उसकी कोई फीस नहीं होती। कोई शुल्क नहीं होता। वह निःस्वार्थ भाव से शुद्ध दान स्वरूप ही दी जाती है। अब तक यही होता रहा है। परंतु शिविरों में आए हुए शिविरार्थियों के भोजन, आवास, व्यवस्था आदि पर जो खर्च होता था वह अधिकांश साधकों से वसूल किया जाता रहा है। लेकिन अब विपश्यना विश्व विद्यापीठ शुद्ध धर्म के अभ्यास का एक स्थायी शिक्षण केंद्र बन गया है। अतः यहां भी नहीं वसूल किया जायगा ताकि व्यवसायिकता का आभास मात्र भी न रहने पाए। लेन-देन यानी लेने के लिए ही देने की वाणिज्य-बुद्धि की जरा सी भी बू भी न रहने पाए। हर साधक जो इस विद्यापीठ में धर्म सीखने आए वह धर्म का दान तो ग्रहण करे ही, साथ-साथ भोजन, आवास आदि सारी आवश्यक भौतिक सुविधाओं का भी दान ग्रहण करे। इस निमित्त जो भी हो सकता है अथवा कड़ी मेहनत करके अपने शरीर श्रम की कठिन कमाई में से एक ही रुपये का अनुदान देने वाला कोई महान पुण्य भागी श्रमिक भी हो सकता है। दानी जो भी हो, दिये गये दान का उसे अधिक से

अधिक लाभ मिले, यह भावना हर दानग्राही साधक के मन में जागनी ही चाहिये। दानी को अपने दान का अधिक फल तभी मिल पाता है जबकि उसके दान का बीज किसी उपजाऊ पुण्य-क्षेत्र में बोया गया हो। अतः विद्यापीठ के हर शिविरार्थी साधक को अपने पूर्व दानी के दान को अधिक सुफलदायी बनाने के लिए अपने आप को उपजाऊ पुण्य क्षेत्र बनाना ही होगा। उसे यहां रहते हुए, शील सदाचार का जीवन जीते हुए, निष्ठापूर्वक विपश्यना के अभ्यास द्वारा अधिक से अधिक आत्म-शुद्धि करनी होगी। वह तभी उपजाऊ पुण्य-क्षेत्र बनेगा। इस जिम्मेदारी की गंभीरता को समझते हुए साधक न केवल अपने ही लाभ के लिए वरन् अपने महानुभावी अज्ञात दानी के लाभ के लिये भी अधिक से अधिक श्रम करेगा। इस प्रकार दुहरा मंगल सृजन करेगा।

यों, इन समस्त सुविधाओं के दान का लाभ उठाता हुआ साधक अपने परिश्रम द्वारा जो भी आध्यात्मिक लाभ हासिल करेगा, आतंरिक सुख-शांति उपलब्ध करेगा, उसके कारण शिविर समापन के समय स्वभावतः उसके मन में यह धर्म-प्रेरणा जागेगी ही कि किसी महानुभाव के पुनीत दान से मुझे यह मंगल लाभ हुआ। अतः मैं भी अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार इस धर्म-गंगा को प्रवहमान रखने के लिये अपना अनुदान दूं ताकि मेरे इस अनुदान से भावी शिविरों में आने वाले अनेकानेक शिविरार्थियों को भी ऐसी सुख-शांति मिले। ऐसी धर्म-चेतना नहीं जागती है तो विपश्यना विश्व-विद्यापीठ धर्म सिखाने में असफल हुई मानी जायगी। कृतज्ञता की चेतना धर्म का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है और इसी प्रकार औरों के सुख के लिये त्याग की चेतना भी। कोई सचमुच शुद्धधर्म सीखेगा तो यह चेतना जागेगी। अवश्य जागेगी ही।

ट्रस्ट के इस अभिनव प्रयोग के निर्णय पर कुछ एक लोगों की विरोध-भरी प्रतिक्रियाएं भी सामने आयी हैं। ऐसा विरोध किसी दूषित भावना से नहीं किया गया है। ये सभी अनुभवी लोग हैं। अपने अनुभव के आधार पर ही कहते हैं कि आज के भारत में ऐसा प्रयोग सफल नहीं हो सकेगा। अनेक आश्रय-विहीन लोग इस सहूलियत का लाभ उठाने के लिये यहीं अपना डेरा जमा लेंगे और विद्यापीठ में विपश्यना के प्रशिक्षण का काम तो गौण हो जायगा और यदि लोगों के लंबे अरसे तक रहने पर कोई अप्रिय प्रतिबंध लगा भी दिया गया तो भी जहां मुफ्त खाने और सुख से रहने मिले, भले दस दिन के लिये ही सही, वहां गीले गुड़ पर अनगिनत मक्खियां भिनभिनाने ही लगेंगीं। सहज प्राप्त सुविधाओं का नाजायज फायदा ऊठाने वालों की भीड़ लग ही जायगी, सहूलियतों का लाभ उठाने वाले तो अनेक आयँगे पर औरों के लिये कुछ देने वाले बहुत कम। अधिकांश तो एक कानी कौड़ी भी नहीं देंगे। कुछ एक तो इसलिये नहीं देंगे कि वस्तुतः उनके पास देने के लिये

कुछ होगा ही नहीं। ऐसे लोगों की तो सहायता ट्रस्ट पहले भी करता आया है, अब भी अवश्य ही करे। परंतु अनेक लोग ऐसे होंगे जो कम या अधिक दे अवश्य सकते हैं, पर नहीं देंगे। उनमें से कुछ तो इस मनोवृत्ति के होंगे कि चलो कोई उल्लू फंसा, दस दिन का घर का खर्च ही बचा। कुछ लोग यह सोचकर बगले झांकने लगेंगे कि मेरे थोड़े से देने से क्या फर्क पड़ता है? इतना बड़ा काम तो बड़े-बड़े सेठों के दान से ही चलेगा, वे ही दें। मैं देकर क्यों खोऊं? कुछ लोग समर्थ होते हुए भी कम से कम देकर कन्नी काट जायँगे, यह सोचकर कि यहां कौन पूछता है कि किसने कितना दिया? इतने लोग लोटे-लोटे भर दूध डालेंगे तो मेरे लोटे भर पानी को कौन पहचान पायगा। कुछ ऐसे भी होंगे कि देंगे भी तो रुपये आने-पाई का हिसाब जोड़कर देंगे। इतने फुलके खाये, उसके इतने दाम हुये। अधिक देकर क्यों खोयें? अतः थोड़ा ही देकर पिंड छुड़ाना चाहेंगे। अधिक देने वालो में कुछ लोग यह सोचकर भी नहीं देंगे कि देना वहां चाहिये जहाँ देने की कदर हो। रुपया दें तो उसकी झंकार होनी चाहिए। अनेक लोगों तक आवाज पहुँचनी चाहिये। यहां देने पर तो कोई नाम नहीं, यश नहीं, प्रसिद्धि नहीं। दिये रुपये की पूरी वसूली नहीं। यहां देकर क्यों खोएं? कुछ इसलिए भी मुँह मोड़ लेंगे कि यह केन्द्र तो नासिक, मुंबई, पूना निवासियों के अधिक काम आने वाला है। वे ही दें। हम तो अपने यहां कोई साधना केंद्र खुलेगा उसमें अपना लाभ साधें। ऐसे अनेक बहाने बनाकर जिन्हें नहीं देना है वे नहीं देंगे। निर्माण कार्य के लिए कोई न दे। परंतु भोजन आदि का खर्च भी लोग न देंगे तो विद्यापीठ कैसे चलेगा? आखिर इसके पास आमदनी का और कोई स्रोत तो है नहीं। अनुदान भी यहां साधक को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति या प्रतिष्ठान से स्वीकार नहीं किया जाता तो गाड़ी चलेगी कैसे? इन भाइयों का सुझाव है कि भोजन और व्यवस्था का खर्च तो साधकों से लिया ही जाना चाहिए। इसे ऐच्छिक दान पर नहीं छोड़ना चाहिए। इनका कहना है कि युग के अनुसार चलना चाहिए। आज के युग में अति सरलता नहीं चल सकती। सीधी अंगुली घी नहीं निकल सकता। नफा न लें, पर लागत तो अग्रिम वसूल कर ही लेनी चाहिए। इन भाइयों के तर्क थोथे हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह महज विरोध के लिये विरोध करते हों, ऐसा भी नहीं है। ये व्यावहारिक लोग हैं। ठोस धरती पर कदम रखकर चलने वाले लोग हैं। लोगों की वर्तमान मनोदशा के सूक्ष्म पारखी हैं। और फिर अभी-अभी पूना में हुए सार्वजनिक टेलीफोन बूथ के असफल प्रयोग की कहानी भी तो सबके मन पर तरोताजा ही है। लोगों की नेकनीयती पर भरोसा करके वहां यह प्रयोग किया गया कि हर व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी समझ कर पेटी में पैसे डाल कर ही टेलीफोन इस्तेमाल करें। परंतु परिणाम यह निकला कि बिना पैसा डाले टेलीफोन करने वालों की ही संख्या अधिक रही।

अतः उनकी आशंका निर्मूल नहीं है। वर्तमान समाज में व्याप्त अनैतिकता को कैसे नकारा जा सकता है? परंतु इसी वजह से तो उपरोक्त कदम उठाना और भी आवश्यक है। हमें अपने रोग को स्वीकार करके उसे दूर करने का उपाय करना है। न कि रोग को असाध्य मानकर निराश हो बैठना। रोग निवारण का पूरा पूरा प्रयास करना ही चाहिए। आखिर इस शिक्षण संस्था को आरंभ करने का उद्देश्य ही और क्या है? विद्यापीठ के लिए यही तो चुनौती है। हम सब में धर्म जागे। सभी शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठित हों। धर्म में प्रतिष्ठित होने का अर्थ अच्छे नागरिक बनना है। स्वस्थ समाज के स्वस्थ नागरिक। स्वस्थ नागरिक का मापदण्ड यही है कि वह समाज से अपनी आवश्यकता के अनुसार लेता है और समाज को अपनी शक्ति के अनुसार देता भी है। हम केवल लें और बदले में दे नहीं तो स्वयं भी अस्वस्थ होंगे तथा समाज को भी अस्वस्थ बनाएंगे। हममें शुद्ध धर्म जागेगा तो ऐसी अस्वस्थ मनोवृत्ति दूर होगी ही। इसीलिए तो विपश्यना साधना है। जीवन जगत की समस्याओं से विमुख होकर पलायन करने वालों के लिए ही विपश्यना है। इस विद्यापीठ में साधक यही तो प्रशिक्षण पायगा। इस पावन पाठशाला के प्रांगण में स्वस्थ जीवन जीने का यही पहला पाठ सीखेगा। यहां से अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण करेगा और औरों के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार देना सीखेगा।

विश्वास है कि ट्रस्ट का यह अभिनव प्रयोग सफल होगा ही। इस प्रयोग की सफलता में ही विद्यापीठ की सफलता निहित है। विद्यापीठ में हम इसी का तो अभ्यास करना सीखेंगे;–

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।

जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥

अपने ही भीतर के दूषित स्वभाव को तो जीतने का अभ्यास करना है। क्रोधी स्वभाव को प्यार से, बुरे को भलाई से, कृपण को दान से, झूठे को सच से। विपश्यना विश्व विद्यापीठ का यह मंगल उद्देश्य परिपूर्ण हो, यही कल्याण कामना है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ फाल्गुन पूर्णिमा दि. १६-३-७६ अंक ९)

उद्‌बोधन

मेरे प्यारे साधक साधिकाओ!

साधु! साधु!! साधु!!!

स्थान-स्थान से विश्व भर के साधक साधिकाओं की मंगल मैत्री मिल रही है। मंगल मैत्री अमित कल्याणी है। उभय पक्ष के लिए मंगलदायिनी है।

परंतु किसी-किसी साधक ने चिंता भी प्रकट की है। चिंता, भय, आशंका, निराशा, दुराशा, व्याकुलता धर्म-विरोधी तरंगें हैं, कल्याण-विरोधी तरंगें हैं। उभय पक्ष के लिए हानिकारक हैं। अतः विपश्यी साधकों के लिए ऐसी तरंगों का प्रजनन अत्यंत अशोभनीय है, त्याज्य है। समताभरी मंगलमैत्री ही ग्राह्य है।

कोई रोग आए तो चिंता किस बात की? रोग तो मंगल का सूचक है। शरीर में संचित हुए अनेक प्रकार के विष जब अन्य किसी राह से नहीं निकल पाते तब रोग से ही उनका रेचन होता है। इसी प्रकार कई अकुशल संस्कार ऐसे होते हैं जो विपश्यना द्वारा दुर्बल तो हो जाते हैं, परंतु वह निर्मूल नहीं हो पाता, तो उनका रेचन भी कभी-कभी शारीरिक रोग द्वारा ही होता है। दोनों ही अवस्था में महामंगलदायक है रोग का आगमन। हां, यदि रोग को भोगने लगें तो अवश्य चिंता की बात शुरू हो जाती है। जब कोई व्यक्ति रोग का दुःख भोगता है तो कराहता है, तड़पता है, व्याकुल होता है, दुर्मन होता है और परिणामतः रोग-निवारण की उपचार-अवधि को लंबा बनाता है। दूसरी ओर जितनी देर भोगता है, उतनी देर नए-नए दूषित कर्म-संस्कारों का ढेर प्रजनन किए जाता है। यानी अपने ही दुःखों का संवर्धन किए जाता है।

परंतु कोई व्यक्ति जब-जब अपने रोग को देखता है, उसका प्रत्यक्षीकरण करता है, साक्षीकरण करता है तो समता-भरे शांत चित्त से दुख-दर्शन करता हुआ रोग-निवारण की उपचार अवधि को छोटा करता है। जीवन-धारा पर उदीर्ण हुए पूर्व संस्कारों के कर्म-विपाकों का साक्षी बनकर नए संस्कारों के प्रजनन का संवर करता है और इस प्रकार पुरानों के विघटन और क्षय होने का कारण बनता है।

रोग का दर्शन दुःख का दर्शन है। रोग इस परिवर्तनशील शरीर का स्वाभाविक धर्म है। अतः रोग का दर्शन धर्म का दर्शन है। रोग से जरा-जीर्ण होना जीवन जगत की सच्चाई है। अतः रोग का दर्शन सत्य का दर्शन है। रोग-दर्शन यानी सत्य-दर्शन यानी प्रथम आर्य सत्य-दर्शन, ऐसी सच्चाई का दर्शन जो हमें आर्य बना देता है, निर्मल बना देता है, मुक्त बना देता है।

इसीलिए रोग का दर्शन महामंगलकारी है।

परंतु दुर्बल मन कभी-कभी रोग दर्शन से यानी सत्य-दर्शन से मुँह मोड़ लेता है। अपने पुराने कर्म-संस्कारों का ऋण हँसते-हँसते नहीं चुकाना चाहता तो कुछ देर के लिए फिर रोग में लोट-पलोट लगाने लगता है, रोग भोगने लगता है। यानी दु:ख भोगने लगता है। ऐसे समय किसी के द्वारा भी प्रजनन की गई चिंता की तरंगे मन को और अधिक दुर्बल बनाने में सहायक होती हैं। परंतु ऐसे समय किसी साधक द्वारा समताभरे चित्त से अनित्य बोध की प्रज्ञा से प्रजनन की गई मंगल मैत्री की तरंगें रोगी के मन को सबल बनाने में सहायक होती हैं। भोक्ता से द्रष्टा बनाने में सहायक होती हैं। दोनों ओर कल्याण का कारण बनती हैं।

अत: साधक भूलकर भी चिंता की तरंगों का प्रजनन न करें। प्रज्ञाभरी मंगल मैत्री का ही प्रजनन करें। असीम कल्याणी है मंगल मैत्री।

साधु! साधु!! साधु!!!

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५१९ चैत्र पूर्णिमा दि. १४-४-७६ अंक १०)

उदान

उदान वायु माने वह श्वास वायु जो हृदय से उठे और कंठ-तालु तक आकर मुँह से बाहर निकले। इसी प्रकार उदान बचन माने वह उद्गार जो सीधे हृदय से उठे और वाणी द्वारा प्रकट हो जाय। ऐसा उद्गार शोकजन्य हो सकता है और हर्षजन्य भी। परंतु पुरातन भाषा में सामान्यतया हर्षजन्य उद्गार को ही उदान कहा गया है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध तथा अन्य संतों द्वारा समय-समय पर प्रवदित उल्लास वचन उदान कहलाए। "अनेक जाति संसारं....." भगवान का बहु प्रसिद्ध प्रथम उदान है जो कि बुद्धत्व प्राप्त होते ही, निर्वाण का साक्षात्कार होने पर उनके मुँह से निकला तदनंतर कई अवसरों पर किसी न किसी घटना को देखकर उनके मुँह से अनायास हर्ष के उद्गार निकले **"अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि।"** यानी "उस समय इस बात को जानकर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े" ऐसे हर्षोद्गारों को कालांतर में **"उदान"** के नाम से ही संगृहीत किया गया जो कि पालि त्रिपिटक के खुद्दक निकाय नामक संग्रह का एक लघु परंतु अत्यंत प्रेरणादायक ग्रंथ है।

जिस कल्याणी विपश्यना के अभ्यास से उन्हें स्वयं नितांत विमुक्ति मिली, वे जीवन भर लोगों को उसी का अभ्यास कराते रहे। इस विधि द्वारा स्वयं विमुक्त होकर हर्षित हुए। अतः अन्य साधकों को भी इसका सकुशल अभ्यास करते देख अथवा अभ्यास द्वारा मुक्त हुआ देखकर उनके मुँह से यदा-कदा उदान के शब्द निकले हैं। आज हम ऐसे ही एक उदान की चर्चा करेंगे।

एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा- **'अञ्ञतरो भिक्खु भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय पुराणकम्मविपाकजं दुक्खं तिब्बं खरं कटुकं वेदनं अधिवासेन्तो सतो सम्पजानो अविहञ्ञमानो।'**

अर्थात कोई एक भिक्षु भगवान के समीप पाल्थी मारकर कमर सीधी करके बैठा हुआ अपने पुराने कर्मों के विपाक द्वारा जो अत्यंत तीव्र कठोर और कटु दुःखद संवेदना अनुभूत हो रही थी, उसे बिना विकल हुए, उसके अनित्य स्वभाव को भलीभांति समझते हुए स्मृतिवान रहकर सहन कर रहा था।

उस समय यह देखकर भगवान के मुँह से उदान के यह वचन निकल पड़ेः–

"सब्बकम्मजहस्स भिक्खुनो
धुनमानस्स पुरे कतं रजं।
अममस्स ठितस्स तादिनो
अत्थो नत्थि जनं लपेतवे॥"

अर्थात जिस भिक्षु ने समस्त नए कर्म करने त्याग दिए, बंद कर दिए और पुराने कर्मों का जो मैल संगृहीत था, उसे धुन-धुन कर दूर कर रहा है, वह साधक ऐसा करते हुए विपश्यना साधना के उस धरातल पर स्थित हो गया है जहां कि 'मेरा' कहने के लिए कुछ नहीं रह गया है। ऐसा साधक अब लोगों से क्या बात करेगा? लप-लप करने के लिए कुछ नहीं रह गया। वह आर्य मौन में स्थित होकर सतत साधनारत है।

किसी को मुक्ति के मार्ग पर लगे हुए देखकर उस महाकारुणिक भगवान बुद्ध के मुँह से ऐसे उदान वचन निकलने स्वाभाविक थे। इस उदान में विपश्यना साधना की पूरी विधि बहुत थोड़े से शब्दों में आ गई है। आओ, इस उदान के भाव को जरा विस्तार से समझने की कोशिश करें।

विपश्यना यानी विदर्शना यानी विशिष्ट, सज्ञान, सम्यक यथार्थ, प्रकृत दर्शन, संस्कृत, बनावटी, कपोलकल्पित दर्शन नहीं। भ्रम-भ्रांति या विपल्लास [विपर्यास] के मायावी आवरण से जो विकृत हो गया है और जैसा है वैसा न लगकर कुछ और ही लग रहा है; उसे निवारण कर, जैसा है वैसा, यानी यथाभूत दर्शन। सही-सही दर्शन। मोह-मूढ़तापूर्वक नहीं, बल्कि सज्ञान दर्शन। इसीलिए विपश्यना को **"यथाभूत ञाणदस्सनं"** [यथाभूत ज्ञान दर्शन] कहा गया। यानी यथार्थ का सही ज्ञान [सम्यकज्ञान] और सही दर्शन [सम्यकदर्शन]। यहां दर्शन शब्द का अर्थ रंग-रूप देखना नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूति करना है।

हमें सबसे बड़ी और सबसे खतरनाक भ्रांति स्वयं अपने बारे में होती है। जो 'मैं' नहीं है उसके प्रति 'मैं' होने की, जो 'मेरा' नहीं है उसके प्रति 'मेरा' होने की और जो 'मेरी आत्मा' नहीं है उसके प्रति 'मेरी आत्मा' होने की भ्रांति। यह शरीर न 'मैं' हूं, न 'मेरा' है, न 'मेरी आत्मा' है। इस सच्चाई को श्रुतज्ञान द्वारा यानी धर्म-ग्रन्थों को पढ़-पढ़कर, धर्मगुरुओं के धर्मोपदेश सुन-सुनकर भावावेश के स्तर पर खूब मान रहे हैं और इससे आगे बढ़ते हैं तो चिंतन-मनन करके बौद्धिक स्तर पर भी खूब मान रहे हैं। परंतु स्वानुभूति के अभाव में वास्तविकता के स्तर पर तो शरीर को ही 'मैं' 'मेरा', 'मेरी आत्मा' मानकर सारा जीवन व्यवहार चलता है और इसी कारण मोहजन्य अहंभाव और ममत्वभाव की आसक्तियों का प्रपंच फैलता है और हमें दुःख-पाश में बांधता है। इसी प्रकार शरीरधारा और चित्तधारा

के संस्पर्श के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को, चित्त और चित्तवृत्तियों को 'मैं' 'मेरा', 'मेरी आत्मा' मानते रहने की मिथ्या दृष्टि के कारण अज्ञानवश नानाप्रकार के विकारों का और परिणामस्वरूप दु:खों का प्रजनन संवर्धन करते रहते हैं। शरीर, संवेदना, चित्त और चित्तवृत्तियों के धर्म-स्वभाव का सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान ही यथाभूत ज्ञानदर्शन है जो कि उनके उत्पाद-व्यय वाले अनित्य लक्षण की प्रत्यक्षानुभूति करवाता है, जिसके परिणामस्वरूप 'मैं' 'मेरे' की भ्रामक दृष्टि और भ्रामक ज्ञान से मुक्त होकर उत्पाद-विहीन, व्ययविहीन, अच्युत, अमृत, निर्वाण पद का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस सम्यकदर्शन और सम्यकज्ञानमयी विपश्यना, विदर्शना के अभ्यास को ही भगवान ने मुक्ति के लिए **'एकायनो मग्गो'** यानी एक मात्र मार्ग कहा। सचमुच शरीर और चित्तधारा के प्रति तादात्म्यजन्य मिथ्यादृष्टि के रहते कोई व्यक्ति कैसे विमुक्त हो सकता है भला? इस अहं और ममत्व से हटकर ही विमुक्ति प्राप्त होती है। ऐसा होने पर ही नए कर्म बनने रुकते हैं और पुराने क्षीण होने लगते हैं।

सचमुच जब कोई साधक नये कर्म बांधना बंद कर दे और पुरानों का क्षय कर ले– **'खीणं पुराणं नव नत्थि सम्भवं'** तभी निर्वाणलाभी होता है। किसी दीपक का तेल और बाती समाप्त हो जाय तो वह सहज ही निवृत्त हो जाता है। इन उपादानों के बिना क्या जलेगा? कैसे जलेगा?

आओ, समझें! विपश्यना द्वारा नये कर्मों की ग्रन्थियां कैसे बांधनी बंद हो जाती हैं? और पुराने कर्मों की ग्रंथियां धुन-धुन कर कैसे खुलती जाती हैं? नये कर्म बंद करने के लिये ही साधक **'निसिन्नोहोति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय'** होता है यानी पांव मोड़कर पालथी मारकर बैठता है, रीढ़ की हड्डी सीधी करके काया को ऋजु रखता है और साधना का अभ्यास शुरू करता है। अधिष्ठानपूर्वक स्थिर बैठा है, हिलता नहीं, डुलता नहीं। आंखें बंद हैं, मुँह बंद है। ऐसी अवस्था में स्थूल स्तर पर काया और वाणी के नये कर्म बन्द कर लिये गये। अब सूक्ष्म स्तर पर चित्त के नए कर्मों को रोकने के लिये चित्त को अप्रमत्त बनाता है, जागरूक रखता है। **'सतो सम्पजानो'** होता है। यानी भली प्रकार सम्यक रूप से जानता हुआ स्मृतिमान होता है। क्या भली प्रकार से जानता हुआ? इसी सच्चाई को जानता हुआ कि **'अनिच्चावत सङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो'** यानी जो कुछ भी संस्कृत है, जो कुछ बनता है वह सचमुच अनित्य ही है। उत्पाद और व्यय होना उसका ध्रुव धर्म है, स्वभाव है। विपश्यी साधक अनुभूतियों के स्तर पर देखता है कि ऊपर-ऊपर से चर्म चक्षुओं द्वारा ठोस, स्थूल, स्थिर और जड़वत लगने वाला यह शरीर सूक्ष्म स्तर पर उत्पाद-व्यय स्वभाव वाले परमाणुओं की तरंगों के

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार देखता है कि चेतना स्कन्ध भी [विज्ञान, सज्ञा वेदना, संस्कार] यानी जानने, पहचानने, संवेदनशील होने और प्रतिक्रिया करते हुये नए कर्म संस्कार बनाने की समस्त चेतना भी उत्पाद-व्यय के स्वभाववाली ही है। तरंगवत ही तरंगवत। चित्त और काया का समग्र प्रपंच प्रतिक्षण उदय-व्यय, उदय-व्यय के स्वभाववाला है। उर्मियों और बुदबुदों के स्वभाव वाला है। इस सच्चाई को जब-जब प्रत्यक्षानुभूति द्वारा देखता है तब-तब प्रज्ञा में स्थित होता, विद्या में स्थिर होता है। स्थितप्रज्ञ बनता है, विद्यासंपन्न बनता है। जब-जब इससे विमुख होता है तब-तब दुष्प्रज्ञ बनता है, अविद्या में उलझता है। दुष्प्रज्ञ अवस्था में शरीर और चित्तस्कंध पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक सुखद या दुःखद संवेदना के प्रति तादात्म्य स्थापित करता है, उसे 'मैं-मेरी' मानता है। अतः वेदनास्कंध यानी संवेदनशील होनेवाली चेतना के पश्चात जो संज्ञा स्कंध यानी पहचानने वाली चेतना उत्पन्न होती है वह भ्रम पैदा करने वाली, अहं, मम से भरी हुई, सुखद और दुःखद के प्रति राग और द्वेष से भरी हुई ही होती है और परिणाम-स्वरूप संस्कार स्कन्ध यानी प्रतिक्रिया करने वाली चेतना अत्यन्त प्रबल होकर राग, द्वेष मूलक अनेक नए-नए कर्म-बंध बांधती है। बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विद्या और अविद्या के, प्रज्ञा और दुष्प्रज्ञता के, ज्ञान और अज्ञान के इस विभेद को समझता और स्मृति और संप्रज्ञान यानी जागरूकता और समझदारी में स्थित रहने का अभ्यास करते हुये अधिक देर ऐसी अवस्था में रहता है जबकि अविद्या के स्थान पर विद्या जाग्रत रहती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक संवेदना के प्रति जो प्रज्ञा जागती है वह उस क्षण के शरीर स्कंध और संवेदना स्कंध के अनित्य लक्षण को महसूस करने वाली होती है और इसलिये उसे अमम यानी यह मेरी नहीं है, ऐसा पहचानती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसके प्रति न राग उपजता है न द्वेष। उसका परिवर्तनशील स्वभाव ही प्रमुख रहता है। इस हालत में संस्कार स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है, नया संस्कार नहीं बनता। नया संस्कार ही नया कर्म है। साधक जिस क्षण नए कर्म बंधन को त्यागता है, उस क्षण चित्त संतति पर किसी पुराने कर्म के फल-विपाक, फल पकने से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदना के उत्पन्न होने को अवकाश, अवसर देता है। चित्त संतति पर पुराने कर्मों के फल स्वरूप जो संवेदना होती है सामान्यतया उसके कारण अपनी मूढ़तावश हम नई राग-द्वेषमयी प्रतिक्रियाएं यानी नये कर्म-संस्कार पैदा करते हैं। परंतु विपश्यना के अभ्यास द्वारा सचेत और संप्रज्ञ रहते हुए जो उनके अनित्य लक्षणों को देखता है, उनके साथ ममत्वहीन रहता हुआ राग-द्वेष से दूर रहता है, वह इस पुराने कर्म-विपाक का बल क्षीण कर लेता है। अब यह फल-विपाक कैंसर की तरह बढ़ नहीं सकता। यही **'खीणं पुराणं'** है। जहां एक

कर्म-विपाक उदीर्ण हुआ और प्रज्ञापूर्वक उसे क्षय कर लिया वहां किसी दूसरे कर्म का फल तत्क्षण प्रकट होगा यों एक के बाद एक पुराने कर्मों के विपाक का तांता लग जाता है। विपश्यना के प्रज्ञा-यज्ञ में उनकी आहुति लगती जाती है। यह क्रम जितनी देर तक चलता है उतनी देर **'खीणं पुराणं'** होता रहता है। परंतु जब कोई कर्म-विपाक अत्यंत घनीभूत पीड़ा के रूप में प्रकट होता है तो साधक की सारी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, विद्या विलीन हो जाती है, प्रज्ञा क्षीण हो जाती है, पीड़ा के प्रति अममत्व भाव रख ही नहीं पाता। बौद्धिक स्तर पर भले अनित्य-अनित्य करता रहे, परंतु वास्तविक स्तर पर तो ममत्वभाव आ जाने के कारण उसे दूर किया चाहता है और चाहने से वह दूर होती नहीं अतः लगता है कि यह तो नित्य हैं, यह पीड़ा कभी समाप्त नहीं होगी। वास्तविक स्तर पर अनित्य तब लगे जबकि उसमें भी **'उप्पादवयधम्मिनो'** उत्पाद-व्यय का धर्म-स्वभाव तरंगों के रूप में अनुभूत होने लगे, उस स्थूल **संघट** (राशिकृत) ठोस पीड़ा की धनसंज्ञा नष्ट कर सूक्ष्म प्रकंपन लहरियों की अनुभूति प्रज्ञामयी विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा ही होती है, यही ग्रंथिविमोचन है। यही 'धुनमानस्स पुरे कतं रजं' है। यही पुराने कर्म-रज की ग्रंथियों का धुनना है, धुनना माने प्रकम्पित करके अलग करना है। जैसे कोई धुनिया कपास की ग्रंथि को अपने धुनके के तार से प्रकंपित कर खोलता है– कपास का एक-एक तार अलग-अलग कर देता है। छोटी सी ग्रन्थि भी रह जाय, उलझन रह जाय, तो धुनना पूर्ण नही हुआ। इसी प्रकार विपश्यना साधना के अभ्यास में जब तक सघनता की अनुभूति होती रहती है तब तक धुनना पूरा नही हुआ। घनत्व नष्ट करना ही ग्रन्थि को धुनकर खोल देना है।

यह प्रणिधान यानी साधना कैसे होती है? देख! **पुराणकम्मविपाकजं दुक्खं तिब्बं कटुकं वेदन अधिवासेन्तो** यानी पुराने कर्मों के फल पकने के कारण हुई तीव्र प्रखर, कटु दुःखद संवेदना को सहन करता है पर कैसे सहन करता है? यदि विवश व्याकुल होकर सहन करता है तो यह सहन करना पुराने मैल को दूर करने वाला नहीं होता। परंतु **स्मृति संप्रज्ञानपूर्वक** यानी समझबूझपूर्वक जागरूक रहते हुए सहता है तो सही माने में **"अविहञ्ञमानो"** यानी आकुल-व्याकुल हुए बिना सहन करता है। यही विपश्यना है। **"यथाभूतञाणदस्सनं"** है। ऐसा करता है तो नए कर्म नहीं बांधता और इसी वजह से पुरानों को क्षय होने का अवकाश देता है। जैसे ही जरा सी व्याकुलता आयी, यानी ममत्वभाव आया वैसे ही राग-द्वेषजन्य प्रतिक्रिया शुरू हुई और यही नया कर्म-संस्कार है। ऐसा होते ही पुराने का धुनना, धुलना रुक गया। परंतु सतत अभ्यास करते-करते समझदार पराक्रमी साधक उस अवस्था तक पहुँच जाता है जब कि **"अममस्स ठितस्स"** यानी अममत्वभाव में

पूरी तरह स्थित हो जाता है। अममत्वभाव में स्थित हो गया तभी तीव्र से तीव्र और प्रखर से प्रखर दुःखद संवेदना को **"अविहञ्ञमानो"** बिना आकुल-व्याकुल हुए सहन करता है और परिणामतः **"सब्बकम्मजहस्स"** हो जाता है यानी सभी नए कर्मों से बिल्कुल विरत हो जाता है। साधना का सारा समय **"धुनमानस्स पुरे कतं रजं"** पुराने कर्म को धुनकर साफ करने में ही लगाता है ताकि उस अवस्था तक पहुँच जाय, जहां **"विसङ्खारगतं चित्तं"** यानी चित्त सारे संस्कारों से विहीन हो जाय, नितांत विमुक्त हो जाय।

ऐसे समझदार साधक को अब अभ्यास करना ही रह गया। लोगों से फजूल बात करने के लिए अवकाश कहां? अवसर कहां? मानवीय जीवन का प्रतिक्षण कितना अमूल्य है। इसे व्यर्थ नहीं गँवा सकता। वह **"अत्थो नत्थि जनं लपेतवे"** हो जाता है। जो साधना की गंभीरता को नहीं समझता या जो अभ्यास करता ही नहीं अथवा करता है तो थोड़ी-बहुत अनुभूतियां प्राप्त करके फूल उठता है और आगे काम बंद कर देता है वैसा व्यक्ति सारा समय लोगों से लप-लप करने में, बकवास में ही बिताता है। इस कल्याणकारी साधना को वाणी-विलास और बुद्धिविलास का विषय बनाता है सारा जीवन आलाप-संलाप में ही खो देता है। कल्याण साधना करने में हैं; मात्र साधना की चर्चा करने में नहीं।

इसीलिए किसी साधक को अपने समीप पालथी मारे, कमर सीधी किए, बिना हिले-डुले और पूर्ण मौन साधे, पुराने कर्मों के दुःखों को स्मृति और प्रज्ञा के साथ मदद करते हुए, सभी नऐ कर्मों के त्याग का पराक्रम करते हुए और पुराने कर्मों की सफाई करते हुए तथा अमरत्व में स्थित होते देखा तो भगवान के मुँह से यह उदान वाक्य निकलने स्वाभाविक ही थे। हमें भी इससे प्रेरणा मिले और हम भी इस प्रकार के पराक्रम में लग जायँ, इसी में हमारा कल्याण है।

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५२० वैशाख पूर्णिमा दि. १३-५-७६ अंक ११)

सम्यक धर्म

सम्यक माने ठीक, सही, यथार्थ, सत्य, अतः सम्यक धर्म माने सत्य धर्म, सत धर्म, सद्धर्म। ऐसा धर्म जिसमें मिथ्यात्व को कहीं स्थान नहीं, जिसका कल्पना से कोई वास्ता नहीं। यदि कोई उपदेशक किसी मिथ्या बात को, मिथ्या ही क्यों सही बात को भी अंधश्रद्धा से महज कल्पना के स्तर पर मान लेने का आग्रह करे तो समझो वह सम्यक नहीं, मिथ्या धर्म का उपदेश कर रहा है।

सम्यक माने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष, निष्कलुष, अतः सम्यक धर्म माने शुद्ध धर्म, ऐसा जिसमें पाप के लिए किंचित भी स्थान नहीं। जिसका जोर-जबरदस्ती से कोई वास्ता नहीं। धर्म निर्मल होता है तो सहज स्वीकार्य होता है, क्योंकि न्यायसंगत होता है, युक्तिसंगत होता है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी बात नू-नच किए बिना, तर्क-वितर्क किए बिना, अक्ल की दखल दिए बिना आंख मूंद कर इसलिए मान लो कि न मानने पर कोई अदृश्य सत्ता तुम्हें असह्य नारकीय यंत्रणा का दंड देगी और मान लेने पर प्रसन्न होकर तुम्हारे सारे पाप भुला देगी और स्वर्गीय सुख का वरदान देगी; तो समझो वह सम्यक नहीं, मिथ्या धर्म की छलना है।

सम्यक माने अक्षत, अखंड, अविकल, पूर्ण, सम्यक धर्म माने परिपूर्ण परिपक्व धर्म। धर्म की परिपूर्णता, परिपक्वता उसे पूरी तरह धारण कर लेने में है। महज पठन-पाठन, चर्चा-परिचर्चा धर्म की अविकल्प परिपूर्णता नहीं है। बुद्धि-क्रीड़ा और बुद्धि-रंजन धर्म की पूर्ण परिपक्वता नहीं है। पढ़े-सुने धर्म का चिंतन-मनन करके उसे सम्यक रूपेन धारण कर लेना, जीवन का अंग बना लेना, सहज स्वभाव बना लेना ही उसकी परिपूर्णता है, परिपक्वता है। यही धर्म का सम्यकत्व है। कोई उपदेशक कहे कि मेरी वाणी को सुन लेने मात्र से अथवा अमुक धर्म ग्रन्थ को पढ़ लेने मात्र से अथवा अमुक दार्शनिक सिद्धांत को स्वीकार कर लेने मात्र से तुम्हारी मुक्ति हो जायगी; धर्म धारण न भी करो तो भी कोई अदृश्य सत्ता इसी बात पर तुम पर रीझ कर तुम्हारे सारे पाप धो देगी तो समझो फिर धर्म सम्यक नहीं, मिथ्या है, मायावी है।

सत्य, स्वच्छ धर्म जीवन में उतरना ही चाहिए– तो ही सम्यक है, कल्याणप्रद है अन्यथा भ्रामक है, दुःखदायी है। जिस किसी को धर्म के सम्यक स्वरूप का जरा भी बोध हो जाता है वह सदैव इस भ्रांति से बचने का प्रयत्न करता है। धर्म को रूढ़िपालन और बुद्धिकिलोल का विषय नहीं बनने देता। सारा

बल धारण करने के अभ्यास में ही लगाता है। इस संबंध में हमारे देश की एक बहुत उज्ज्वल पुरातन कथा है। कुरु प्रदेश का एक बालक, राजकुमार युधिष्ठिर, अन्य राजकुमारों के साथ उसे भी गुरु से दो छोटे-छोटे वाक्यों में धर्म के उपदेश मिले। औरों ने उन वाक्यों को रट कर गुरु महाराज की शाबासी शीघ्र सहज हासिल कर ली। पर उस बालक के लिए तो सम्यक धर्म ही सही धर्म था। वह उसे धारण करने के अभ्यास में दिन बिताने लगा और इस कारण नासमझ गुरु के कोप का भाजन हुआ। चांटे लगे सम्यक मार्गी सुबोध राजकुमार को, जबकि लगने चाहिए ये मिथ्यामार्गी दुर्बोध आचार्य को। पर बेचारा आचार्य भी क्या करता? रूढ़ियों का, परंपराओं का शिकार था। छिलकों को धर्म मानने का आदी था। उसके लिये तो धर्म के ये छिलके ही अधिक मूल्यवान थे। इन राजकुमारों को धर्म के कुछ बोल सिखा दूंगा। वे रट कर याद कर लेंगे। घर पर माता-पिता पूछेंगे- पाठशाला में क्या पढ़ा? तो विद्यार्थी रटे हुए उन धर्म-वाक्यों को तोते की तरह सुना देंगे, मा-बाप खुशी में फूल उठेंगे। आचार्य का श्रम सफल माना जायगा। वह पुरस्कृत होगा। आजीविका सुगमतापूर्वक चलती रहेगी। धर्म पढ़ने-पढ़ाने का यही मूल्य था उसकी नजरों में, धर्म का यह ओछा और छिछला मूल्यांकन न जाने कब से चला आ रहा है। आज भी कायम है और लगता है भविष्य में भी कायम रहेगा। पढ़ना, सुनना व मनन कर लेने का काम सरल है, पर जीवन में उतारने का काम कठिन है अत्यंत कठिन है। इस कठिन को कोई नहीं करना चाहता। यही कारण है कि हम धर्म के नाम पर अधिकतर मिथ्या धर्म के ही शिकार बने रहते हैं। सम्यक धर्म हमसे कोसों दूर रहता है। समीप आये भी तो कैसे? जब मिथ्या को ही सम्यक मान बैठते हैं तो मिथ्या प्रमुख हो जाता है, सम्यक गौण। अतः सम्यक को समीप लाने का कोई प्रयत्न भी तो नहीं करते।

काया, वाणी और चित्त के सभी कर्मों में धर्म समा जाय तो ही सम्यक हो। यदि इसी को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर अभ्यास में जुट जाय तो जितनी-जितनी सफलता मिले, उतना-उतना लाभ हो। पूरी सफलता मिल जाय तो निस्संदेह पूरा लाभ हो। सर्वांगीण, सम्यक धर्म को जीवन में उतारने का अभ्यास करते रहने में हमारा सही मंगल समाया हुआ है। बिना किसी जाति या संप्रदाय के भेदभाव के, सब का सही मंगल इसी में समाया हुआ है। देखें, धर्म का सर्वांगीण सम्यक स्वरूप क्या है?

हमारी वाणी सम्यक हो। वाणी सम्यक तब होती है जबकि हम झूठ-कपट, गाली-गलौज, कटु-कठोर, चुगली-निंदा और ऊल-जलूल बकवास-भरे वचनों से वस्तुतः छुटकारा पा लेते हैं।

हमारे शारीरिक कर्म सम्यक हों। शारीरिक कर्म सम्यक तब होते हैं जबकि

हम हिंसा-हत्या, चोरी-जारी, नशे-पते आदि के दुष्कर्मों से यथार्थतः मुँह मोड़ लेते हैं।

हमारी आजीविका सम्यक हो। आजीविका तब सम्यक होती है जबकि हम अपने जीवन यापन के साधनों को वास्तविकता के स्तर पर शुद्ध करते हुए छल-छद्म, जालसाजी, तस्करी, चोरी को सर्वथा त्यागते हैं और ऐसा कोई व्यवसाय नहीं करते जिससे कि धन-संचय की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अन्य अनेकों को हानि पहुचाएं।

हमारे प्रयत्न सम्यक हों। प्रयत्न तब सम्यक होते हैं, जब कि हर प्रयत्न सचमुच एक ऐसा व्यायाम बन जाता है जिससे कि हमारा मन दुर्गुण-विपन्न और सद्गुण-संपन्न हो।

हमारी जागरूकता सम्यक हो। जागरूकता तब सम्यक होती है जब कि हम अपने कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों के प्रति सजग सचेत रहने के वास्तविक अभ्यास में जुट जाते हैं।

हमारी समाधि सम्यक हो। समाधि तब सम्यक होती है जब कि सतत् अभ्यास द्वारा हम अपने चित्त को किसी सत्य आलंबन के सहारे देर तक सजग, समाहित रख सकने में सचमुच सफल होते हैं।

हमारे संकल्प विकल्प सम्यक हों। संकल्प विकल्प तब सम्यक होते हैं जब कि हम अपनी चित्तधारा पर से हिंसा, क्रोध, द्वेष, दौर्मनस्य की दुष्वृत्तियां वास्तव में दूर कर देते हैं।

हमारा दर्शन सम्यक हो। दर्शन तब सम्यक होता है जब कि हम बुद्धि-किलोल से छुटकारा पाकर परम सत्य का यथार्थतः दर्शन कर लेते हैं।

दर्शन का मतलब फिलॉसफी नहीं समझें, अन्यथा किसी मत-मतान्तर की फिलॉसफी के सिद्धांतों का चिंतन-मनन ही हमारे लिये सम्यक दर्शन बन बैठेगा और इस प्रकार मिथ्या दर्शन में उलझे रह जायँगे। दर्शन माने साक्षात्कार। परंतु साक्षात्कार का भी अर्थ यह नहीं कि बार-बार के निदिध्यासन द्वारा यथार्थ से सर्वथा दूर किसी कल्पना प्रसूत रंग-रोशनी रूप-आकृति को बंद आंखों से देख कर इस मिथ्यादर्शन को ही सम्यक दर्शन मानने लगें। दर्शन माने सत्य की स्वानुभुति। अपने ही भीतर स्थूल सत्य से आरंभ करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्यों की स्वानुभूति करते हुए जब परम सत्य की स्वानुभूति होती है तो ही दर्शन सम्यक होता है। सम्यक दर्शन के इस अनुभूतिजन्य धरातल पर जो ज्ञान होता है वही ज्ञान सम्यक है। अन्यथा बुद्धिकिलोलजन्य मिथ्या ज्ञान है। सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। सम्यक दर्शन हो

जाय तो सम्यक ज्ञान, सम्यक बोध हो ही जाता है जो कि अभ्यासजन्य धर्म का चरमोत्कर्ष है।

सतत अभ्यास करते-करते सर्वांगीण धर्म को जब हम सम्यक बनाते हैं, परम परिशुद्ध करते हैं, तब जीवन व्यवहार में स्वभावतः सर्वतोमुखी उन्नति होती है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों में से अशुद्धियां दूर होती हैं। जीवन कृतकृत्य होता है, धन्य होता है। त्रिविध आचरण स्वतः सुधरते जाते हैं। चारित्र्य सम्यक होते जाता है। यदि ऐसा न हो और केवल किसी संप्रदाय विशेष की परंपराओं का पालन करते हुए अपने आपको सम्यक चारित्र्यवान कहें तो धोखे में पड़ते हैं। चित्त विकारों से मुक्त हो नहीं, व्यवहार में सौम्यता आए नहीं, पारस्परिक बर्ताव में शुद्धि आए नहीं, फिर भी सम्यक चारित्र्य कहें तो मिथ्या को ही सम्यक मान लेने की भ्रांति होगी।

धर्म की तीन मंजिले हैं – परियत्ति, पटिपत्ति, पटिवेध। परियत्ति माने धर्म के शास्त्रीय ज्ञान की निपुणता। पटिपत्ति माने धर्मपंथ का स्वयं प्रतिपादन। पटिवेध माने मार्ग का अनुशीलन करते हुए, सारी विघ्न बाधाओं का भेदन कर धर्म के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। धर्म का परियत्ति अंग निरर्थक नहीं हैं। परंतु वह सार्थक भी तभी होता है जब कि उससे आगे प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन का प्रयोग कर लिया जाय।

धर्म महज शास्त्रीय ज्ञान में नहीं, आचरण में है। धर्म सैद्धांतिक मान्यता में नहीं, सिद्धांतों का जीवन जीने में है। धर्म आचरण में उतरे तो ही परिपूर्ण होता है, सम्यक होता है। अन्यथा मिथ्या ही मिथ्या रहता है, चाहे उसे बौद्ध कहें या जैन या ईसाई या मुस्लिम या हिन्दू या यहूदी या पारसी या सिक्ख या और कुछ।

किसी भी संप्रदाय के धर्म गुरु से पूछकर देखें। वह यही कहेगा कि धर्म की उपरोक्त बातें यानी काया, वाणी और चित्त के कर्मों को शुद्ध करने की बातें हमारे धर्म की ही हैं। कोई नहीं कहेगा कि ये हमारे धर्म के बाहर की बातें हैं। तो यह बात सब के धर्म की हुई। सार्वजनीन हुई। संप्रदाय-विशेष की नहीं। परंतु साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि सभी संप्रदायों में ऐसे लोगों की संख्या ही अधिक है जो कि अपने आपको धर्मवान तो समझते हैं परंतु धर्म के सार को धारण नहीं करते, धर्म को जीवन में नहीं उतारते। अतः यह रोग सार्वजनीन है, विश्वव्यापी है। किसी संप्रदाय विशेष का नहीं।

हम धर्म का जीवन नहीं जी रहे हैं यह जितना बुरा है उससे हजारों गुना बुरा यह है कि वस्तुतः हम धर्म का ही जीवन जी रहे हैं। विचित्र विडंबना है। रोगी रोते हुये भी अपने आपको निरोग मान रहे हैं। अजीब नशा छाया है हम पर। सब संप्रदाय वालों पर एक नशा। सभी कुओं में भांग पड़ी है। किसी भी संप्रदाय के हों,

अपने-अपने संप्रदाय की किसी विशिष्ट वेश-भूषा को धारण कर लें अथवा अपनी परंपरा का कोई रूढ़ कर्मकांड पूरा कर लें अथवा अपने संप्रदाय के शास्त्रों द्वारा उद्घोषित किसी दार्शनिक सिद्धांत की मान्यता को अपने मन में कट्टरता से भर लें, और महज इसी से समझ बैठें कि हम धर्म का जीवन जी रहे है, भले हमारे दैनिक जीवन में धर्म का नामोनिशान न हों। धर्म के नाम पर कितना गहरा नशा है यह! पश्चिम के किसी समझदार आदमी ने कहा कि धर्म अफीम का नशा है। जो धर्म नहीं है उसे धर्म मानकर जीने में अफीम का ही नहीं, बल्कि उससे भी बड़ा नशा है। अफीम का नशा तो समय पाकर उतर जाता है, परंतु इस मिथ्या धर्म के नशे में डूबा हुआ व्यक्ति सारा जीवन बेहोशी में बिता देता है, नशा उतरने का नाम नहीं लेता। रोज-पर-रोज तेज हुआ जाता है।

अपना तथा सब का सही मंगल चाहने वाले व्यक्ति को इस नशीले खतरे से बचना चाहिये और यह भलीभांति समझ लेना चाहिये कि धर्म की चरम परिणति, उसका अंतिम लक्ष्य, उसका एक मात्र उद्देश्य उसे जीवन में उतारने में है। जो धर्म पढ़ा-सुना गया, सोचा समझा गया, पर धारण नहीं किया गया वह सम्यक नहीं है, परिपूर्ण नहीं है; अभी कच्चा है। कच्चे घड़े के सहारे गहरी नदी पार करना खतरनाक है। उसे पकाएं। हजार कठिनाइयों के बावजूद भी उसे धारण करने के अभ्यास को ही महत्त्व दें। कहीं ऐसा न हो जाय कि अभ्यास के रास्ते कोई मील का पत्थर हमें रोक ले, कोई मृग-मरीचिका हमें भ्रांत कर दे और हमारी प्रगति रुक जाय। जिस धर्म को हम धर्म मान रहे हैं वह सम्यक है अथवा मिथ्या, इस हकीकत को बार-बार परखते रहें और परखने का एक मात्र तरीका यही है कि धर्म जीवन में उतर रहा है या नहीं। हमारे दैनिक व्यववहार में आ रहा है या नहीं? हमारा भला इसी में है कि जब हम देखें हमारे जीवन में धर्म नहीं उतर रहा है तो भले हम ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं या वैसी, ऐसे क्रियाकांड करते हैं या वैसे, इस संप्रदाय में दीक्षित हैं या उसमें, ऐसी दार्शनिक मान्यता मानते हैं या वैसी, आत्मवादी हैं या अनात्मवादी, ईश्वरवादी हैं या अनीश्वरवादी, द्वेतवादी हैं या अद्वेतवादी; हम इस बात को स्वीकारते हुए जीएं कि हम धर्मवान नहीं हैं, कदापि नहीं है। जीवन में उतरे तो ही धर्म है, वरना धोखा है। हम महज तर्क, श्रद्धा, रूढ़िपालन और दार्शनिक मान्यता के स्तर पर ही धर्म को स्वीकार करके न रह जायँ। बल्कि वास्तविकता के स्तर पर उसे जीवन में उतारें– तो ही धर्म सम्यक है, तो ही कल्याणकारी है, तो ही मंगलकारी है!

(वर्ष ५ बुद्धवर्ष २५२० जेष्ठ पूर्णिमा दि. १२-६-७६ अंक १२)

पत्रिका संग्रह भाग - २

(जुलाई १९७६ से जून १९७७ तक)

सत्य ही धर्म है।

सत्य के अतिरिक्त धर्म की और क्या व्याख्या हो सकती है? सत्य ही धर्म है, असत्य अधर्म। यहां सत्य का अर्थ केवल वाणी की सच्चाई ही नहीं, बल्कि धर्म शब्द की भांति इसका भी वही व्यापक अर्थ है– यानी स्वभाव, गुण, नियम, विधान। प्रकृति के अपने गुण-स्वभाव हैं, नियम-विधान हैं। उन नियम-विधानों की, उन धर्मों की सच्चाई से सारा सजीव, निर्जीव चराचर विश्व बंधा हुआ है। इस व्यापक अर्थ में सत्य और धर्म पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रकृति के स्वभाव की सच्चाई हम जितनी-जितनी समझें और स्वीकारें उतने-उतने धर्म को ही स्वीकारते हैं। सच्चाई तीन प्रकार से स्वीकारी जाती है। स्वीकारने का पहला कदम श्रद्धा की भूमिका से आरंभ होता है। किसी बुद्ध ने, ज्ञानी ने अपने बोधिज्ञान द्वारा इस सच्चाई को शब्दों मे व्यक्त किया। हमारे मन में उस महापुरुष के प्रति श्रद्धा जागी और हमने उसके शब्दों को स्वीकार किया। यह शब्द-सत्य को स्वीकारना हुआ। परंतु शब्द सत्य में सच्चाई की परिपूर्णता नहीं हुआ करती। जब किसी अनुभूतिजन्य ज्ञान को शब्दों पर उतारा जाता है यानी जब कोई सत्यद्रष्टा, ऋतद्रष्टा ऋषि शब्दद्रष्टा बनता है तो सत्य का बहुत कुछ अर्थ नष्ट हो जाता है, इसलिए शब्दसत्य आंशिक सत्य ही होता है। क्योंकि शब्द और भाषा की अपनी सीमाएं हैं। उन्नत से उन्नत भाषा भी आंतरिक अनुभूतियों को स्पष्टतया व्यक्त कर सकने में असमर्थ रहती है और फिर सत्यशोधकों की कुछ अनुभूतियां ऐसी हैं जो वर्णनातीत होती हैं। शब्दों द्वारा उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके बारे में 'नेति-नेति' ही कहा जाता है। कहने वाला केवल ऐसा ही कह कर रह जाता है कि ऐसा तो नहीं है, ऐसा तो नहीं ही है। तीन आयामों को देखने-समझने वाले लोगों को चौथे आयाम की जानकारी किन शब्दों में कराई जाय? इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति इंद्रियों के माध्यम से कैसे समझाई जाय? समझाने की कोशिश करे तो कोई समझे भी कैसे? अतः हर समझदार आदमी के लिए इन अनुभवों की चर्चा करते हुए नकारने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। ऐसा परम सत्य कभी शब्द-सत्य बन ही नहीं सकता।

इंद्रियातीत अनुभूति के लिए तो शब्द असमर्थ हैं ही परंतु ऐंद्रिय अनुभूतियों को भी शब्दों में ठीक-ठीक नहीं ढाला जा सकता। सूक्ष्मतर आंतरिक अनुभूतियां अधिकतर गूंगे का गुड़ ही बनी रह जाती हैं। व्यक्त करने के सभी प्रयत्न अधूरे

रहते हैं। भाषा की सीमाओं के अतिरिक्त बोलने व लिखने वाले की और उससे भी अधिक सुनने व पढ़ने वाले की अपनी-अपनी सीमाएं हैं जो कि शब्दसत्य के पूर्ण सत्य बनने में बाधक होती हैं। कहने वाला जो कहना चाहता है उसे ठीक-ठीक कह न सके और जो कहे वह जिस अर्थ में कहा गया है, सुनने वाला उस अर्थ में समझ न सके, यही शब्दसत्य की अपूर्णता है।

परंतु फिर भी अनुभूतिजन्य सत्य को शब्दों में उतारने के प्रयत्न होते ही हैं। कुछ अंशों में उनका लाभ हुआ है और कुछ अंशों में हानि भी। जहां उन्हें खुले दिमाग से अपनाया गया; वहां लाभ हुआ। परंतु जहां उन्हें पूर्ण सत्य मानने की हठधर्मी हुई वहां सांप्रदायिक अंधविश्वास और अंधमान्यताओं को बढ़ावा मिला। लोगों के दिमाग पर ताले लगे। सत्य अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति रुकी।

परंतु आखिर मानव तो मनु पुत्र है न? मन से उपजा है। मनन-चिंतन करके ही किसी सत्य को स्वीकारना उसका जन्मजात सहज स्वभाव है। सांप्रदायिक नेताओं द्वारा उसके चिंतन-मनन की प्रतिभा को कुंठित कर उसे जड़ भरत बनाए रखने के हजार प्रयत्नों के बावजूद मानव समाज का एक प्रबुद्ध वर्ग शब्दसत्य को जांचने-परखने, बुद्धि के तराजू पर तोलने, तर्क की कसौटी पर कसने और युक्तियों के हथौड़ों की चोट लगाने का काम करता ही रहा है। इसी से सत्य का एक दूसरा स्वरूप उजागर हुआ जिसे अनुमान सत्य या बौद्धिक सत्य कहा गया। हर सच्चाई को बुद्धि की भट्ठी में तपाया जाना चाहिए। उसकी जांच में दिमाग लगाया जाना चाहिए। युक्तियुक्त और तर्कसंगत लगे तो ही स्वीकारना चाहिए इसी नीति के कारण सत्य के अनुसंधान के क्षेत्र में मानव की प्रगति आरंभ हुई। अंधविश्वासों, अंधमान्यताओं और दकियानूसी सांप्रदायिक कठमुल्लेपन को गहरी चोटें लगीं। मानवीय विकास का रास्ता खुला। अंधश्रद्धा और भक्तिभावावेश के घुटनभरे माहौल से और शब्दसत्य को संपूर्ण सत्य मानने के दुराग्रहभरे घने कुहरे से बाहर निकलने में सफलता मिली। किसी बात को आंख मूंदकर मान लेने की आदत छूटी। ऐसा क्यों? यह जानने की उत्सुकता बढ़ी।

परंतु जिस प्रकार शब्दसत्य की मान्यता अधिकतर अंधविश्वासों से दूषित हो उठी, उसी प्रकार अनुमान यानी बौद्धिक सत्य की मान्यता भी बहुधा शुष्क तर्क-वितर्क के घने जंगल में ही भटक कर रह गई। वैसे भी इन दोनों से यानी शब्द और अनुमान से सत्य का आभास ही हो सकता है, अनुभूति नहीं। सत्याभास यानी धर्माभास। और जहां धर्माभास होता है वहां धर्म के नाम पर भ्रांति फैलने की आशंका रहती है। सत्य की अनुभूति ही धर्म की सही अनुभूति है। अतः इन दोनों के आगे की कल्याणकारी मंजिल प्रत्यक्ष सत्य की मंजिल है। प्रत्यक्ष सत्य यानी स्वानुभूतियों के स्तर पर प्रकट हुआ सत्य। आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म

आभ्यंतरिक अनुसंधान की यही सही यात्रा है। धर्म की यही गहरी खोज है। इन प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा जितना-जितना सत्यांश प्रकट होता है मानव उतना-उतना धर्म-पथ पर आगे बढता है।

परंतु अनुभूतियों के स्तर पर सत्य धर्म का स्वयं अन्वेषण कर उसे स्वीकारना कठिन काम है जबकि अंधविश्वास के स्तर पर किसी परायी उक्ति को स्वीकार कर लेना सरल है। इसीलिए मानव जाति के लंबे इतिहास में अधिकतर शब्दसत्य के आधार पर अंधविश्वासी संप्रदाय ही पनपे। कुछ थोड़े से लोगों ने अंधविश्वास को ठुकराकर बुद्धि का प्रयोग किया। परंतु वे भी बहुधा अनुभूति के क्षेत्र में शून्य रह जाने के कारण बौद्धिक मत-मतांतरों के संप्रदायों के प्रणेता अथवा अनुयायी ही होकर रह गये। जहां आंतरिक अनुभूति होती है वहां सांप्रदायिक भेदभाव के लिए गुंजाइश कम रहती है। अन्यथा शब्दों और बौद्धिक तर्क-वितर्को की भिन्नता विभिन्न संप्रदायों का पोषण करती है। आंतरिक अनुभूतियां भी निष्पक्ष सत्य शोधन हेतु हों तो ही शुद्ध धर्म को बल देती हैं अन्यथा पूर्वाग्रहपूर्ण हों तो ये भी मत-मतांतरों को बढ़ावा देंगी।

वस्तुतः सत्य तो एक ही है। भिन्न-भिन्न कैसे होगा? समग्र प्रकृति का विधान एक ही है। अलग-अलग कैसे होगा? परंतु किसी को प्रत्यक्ष अनुभूति पर उतरा हुआ यह विधान जब वाणी का चोला पहनता है तब ये चोले अवश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भाषा, शब्द, वक्ता भिन्न-भिन्न होते हैं और इसी कारण सत्य भी भिन्न-भिन्न लगने लगते हैं। जब कोई भक्त किसी महापुरुष द्वारा अनुभूत सत्य को स्वयं अपनी अनुभूति पर तो उतारता नहीं, परंतु अंधश्रद्धाजन्य भावावेश के स्तर पर उसकी वाणी को स्वीकृति देकर ही अपने आपको धन्य मान बैठता है तब उस वाणी और उन शब्दों के साथ उसका गहरा चिपकाव हो जाना स्वाभाविक है। उसे वे शब्द ही सत्य नजर आते हैं, बाकी सब मिथ्या। यहीं से संप्रदाय की बुनियाद पड़नी शुरू होती है। सत्य का साक्षात्कार करने वाला किसी संप्रदाय से कैसे बँधेगा? परंतु शब्दों में लोट-पलोट लगाने वाला संप्रदाय का सृजन करता है। पहले के लिए भाषा महज माध्यम है अतः गौण है, परंतु दूसरे के लिए भाषा और शब्द ही प्रमुख हैं, प्रधान हैं।

यदि मैं हिंदू संप्रदाय में हूं तो "यम-नियम" शब्द का प्रयोग हुआ देखकर प्रसन्न हो उठता हूं; बौद्ध हूं तो "पंचशील", जैन हूं तो "अणुव्रत", और इसाई हूं तो "टेन कमांडमेंन्टस" के शब्दों को सुनकर गर्व से छाती फुला लेता हूं। लेकिन

धर्म की वास्तविक सच्चाई जीवन में उतरी या नहीं, शील-सदाचार जीवन का अंग बना या नहीं, अपनी संकीर्ण सांप्रदायिक वृत्ति के कारण मैं इसे कतई महत्त्व नहीं देता। केवल शब्दों को ही 'मेरा धर्म' 'तेरा धर्म' कहकर अच्छे-बुरे की संज्ञा देता रहता हूं।

"सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन, सम्यक चारित्र्य" इन शब्दों का प्रयोग किसी भी जैन को कर्णप्रिय लगता है इसी प्रकार "शील, समाधि, प्रज्ञा" किसी बौद्ध को, "स्थितप्रज्ञ, अनासक्त" किसी गीताभक्त को और "होली इनडिफरेंस" का प्रयोग किसी ईसाई को। वैसे ही किसी को धर्म शब्द सुनते ही लगता है मानो कानों में चांदी की घंटियां बज रही हों परंतु उसी व्यक्ति को 'धम्म' शब्द सुनते लगता है मानो छातीपर मूसलों के धमाधम्म धमाके लग रहे हों। इसके ठीक विपरीत किसी दूसरे व्यक्ति को 'धम्म' शब्द में देव-दुंदुभी जैसा श्रुति-मधुर मंगल-घोष सुन पड़ता है और 'धर्म' शब्द उसे कांटे की तरह चुभता है। कैसी आसक्ति पैदा कर ली है हमने इन शब्दों के साथ। इसी कारण इनके अर्थों की ओर ध्यान ही नहीं जाता और ध्यान चला भी जाय तो वह भी उतना ही बेमाने है जब कि अर्थ जीवन में उतरते नहीं। संप्रदाय और धर्म में यही मौलिक भेद है। संप्रदाय शब्दों को महत्त्व देता है और धर्म अर्थों को तथा उन्हें धारण करने को। हम अपने आपको हजार संप्रदाय-विहीन कहें, परंतु सच्चाई यही है कि हमारे लिए संप्रदाय प्रमुख हो गए हैं, इसीलिए शब्द प्रमुख हो उठे हैं, अर्थ गौण। प्रत्यक्ष अनुभूति तो लुप्तप्राय हो गयी है। जिसे देखो शब्द सत्य के पीछे पागल है। बहुत थोड़े हैं जो अनुमान सत्य की ओर बढ़ते है। प्रत्यक्ष सत्य तक जाने की किसी को फुर्सत ही नहीं और कोई उसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करता।

हम हिंदुओं की बांछें खिल जाती हैं जब कि कोई गैर हिंदू गीता का कोई श्लोक अपने भाषण में उद्धृत करता है। इसी प्रकार हम बौद्धों की व जैनियों की हृत्तंत्री के तार बजने लगते हैं जब कि कोई अबौद्ध या अजैनी धम्मपद या महावीर वाणी को अपने भाषणों में उद्धृत करता है। कैसा चिपकाव पैदा कर लिया है हमने अपने-अपने संप्रदाय की वाणियों से। जिस परंपरा और परिवेश में हम जन्मे और पले हैं उसके धर्मग्रन्थों के प्रति श्रद्धा, आदर और झुकाव होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि उन्हीं से हम प्रेरणा और मार्गदर्शन पाते हैं। परंतु दोष आसक्ति से है, चिपकाव से है। यह हमारे चिपकाव का ही परिणाम है कि यदि वही सच्चाई कोई अन्य संप्रदाय वाला अपनी भाषा में बोले और अपने महापुरुष द्वारा कही हुई बताए तो हमारा मन कितना चिड़चिड़ा उठता है? सच्चाई परायी सी लगती है। इस चिपकाव का मुख्य कारण यही है कि हमारी श्रद्धा बांझ रह गयी। उसका कोई

फल नहीं हुआ। हमने अपने धर्म ग्रन्थों की सच्चाई को महज श्रद्धा तक ही सीमित रखा। स्वानुभूतियों से उसका स्वाद चखा नहीं। अतः हमारे लिए तो सदा शब्द ही सत्य रहे हैं। और जिन शब्दों में यह सच्चाई कही गई है वह हमारी परंपरा के हैं नहीं, इसीलिए हमारे लिए शब्दों के साथ-साथ सच्चाई भी परायी हो गयी है। परंतु जब हम उसी सच्चाई का स्वयं साक्षात्कार कर लेते हैं तो उसमें परायापन नहीं रह जाता। सत्य तो सत्य है, अलग-अलग कैसे होगा? संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिब्रू, अरबी आदि विभिन्न भाषाओं के शब्द शब्दसत्य मानने वालों को अलग-अलग लगेंगे। परंतु इससे जरा आगे बढ़ें और थोड़ा सा भी बुद्धि का प्रयोग करें तो यह बौद्धिक अनुमान-सत्य कई एक गुत्थियों को खोलने में सहायक होगा। सत्य से संबंध रखने वाली अनेक विभिन्नताएं दूर करेगा। परंतु जब स्वयं की अनुभूतियों पर उतरने लगेंगे तो सच्चाई की सारी विभिन्नताएं शनैः शनैः दूर होंगी ही। सच्चाइयों में भेद नजर नहीं आयेगा, बशर्ते कि अनुभूति का प्रयोग पूर्वाग्रह-विहीन हो और सत्यशोधन के लिए ही हो।

सत्य न अपना होता है न पराया। न पुराना होता है न नया। न बूढ़ा होता है न जवान। न बर्मी होता है न भारतीय। न हिन्दू होता है न मुसलमान। सत्य सत्य है– सदा एक सा, सर्वत्र एक सा। परंतु किसी मान्यता को जब कोरी कपोल कल्पनाओं पर आश्रित कर सत्य मानने लगते हैं तब विभिन्नता आती ही है। निष्पक्ष अनुभूतिजन्य सत्य में भेद नहीं हुआ करता। शब्दसत्य और अनुमानसत्य की सीमाओं को लांधकर जब हम प्रत्यक्ष सत्य को महत्त्व देने लगते हैं तब मिथ्या कल्पनाओं की जड़ें हिलने लगती हैं। शुद्ध धर्म प्रतिष्ठापित होने लगता है। जो अनुभूतियों पर उतरे वही सत्य, ऐसा मानकर चलना धर्म के रास्ते पर चलना है। सत्य के, ज्ञान के, मुक्ति के रास्ते पर चलना है। ऐसे माहौल में अंधविश्वास टिक नहीं सकता। अनृत, झूठ पनप नहीं सकता। सत्य-धर्म अनुसंधान का विषय है। अंधानुकरण का नहीं।

परंतु जहां संप्रदाय पनपता है वहां सांप्रदायिक नेता सत्य को समीप नहीं आने देते। सच्चाई को तर्क की कसौटी पर भी कसने नहीं देते। अनुभूतियों पर उतारना तो बहुत दूर की बात है। कहते हैं धर्म में अकल को दखल नहीं। कैसा धर्म है यह जिसमें अकल को स्थान न हो? बिना अकल, बिना बोधि का धर्म, धर्म कैसे हुआ? हां, यह ठीक है कि संप्रदाय में अकल की दखल नहीं होती, क्योंकि अकल आते ही संप्रदाय के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। वहां अंधविश्वास ही पनपता है। अनृत के धरातल पर अधर्म ही पनपता है। धर्म नहीं पनप सकता। जब आदमी अपने दिमाग को कैद कर लेता है तब सच्चाई का अनुसंधान स्वतः बंद हो जाता है। धर्म के पांव कट जाते हैं, उसकी आंखें फूट जाती हैं और वह लंगड़ा

और अंधा होकर संप्रदाय बन जाता है। आदमी ने तब-तब सत्य की शोध करनी छोड़ी जब-जब कि "बाबा वचन प्रमाण" वाला गुरुडम उसके सामने दीवार बन कर खड़ा हो गया।

किसी भी संकीर्ण बुद्धि वाले सांप्रदायिक नेता को यही भय बना रहता है कि मेरे बाड़े का एक भी भेड़ यह बाड़ा तुड़ाकर किसी दूसरे में न जा मिले। मेरे सभी अनुयायियों का भेड़-बकरियों और गाय-बैलों का-सा अंधानुकरण वाला स्वभाव बना रहे। इसीलिए वह उन पर अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं की गहरी वारुणी चढ़ाए रखता है। अनेक बेतुकी व असंगत बातों को मानने के लिए मजबूर करते रहता है। न माने तो नारकीय यंत्रणाओं का आतंक और माने तो मुक्ति-मोक्ष का प्रलोभन देता रहता है। उसकी नजरों में धर्म भले छूटे पर संप्रदाय बना रहे। क्या दशा हो गई है हम मनु पुत्रों की? मनन-चिंतन का स्वभाव क्या खो बैठे, अंधसंप्रदाय का भूत सिर पर सवार कर लिया। हम अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों को बिना सोचे समझे सत्य मानें और दूसरे धर्म-ग्रन्थों को बिना पढ़े ही असत्य मानें, ऐसा भावावेश हमारे भीतर कूट-कूट कर भरा गया है। हमें धर्म से कोई लेना-देना नहीं। हमारे लिए संप्रदाय ही प्रमुख है। बुरे से बुरा अधार्मिक दुराचारी व्यक्ति भी यदि हमारे सम्प्रदाय में है तो भला अन्यथा अच्छे से अच्छा धार्मिक सदाचारी व्यक्ति भी पराए संप्रदाय में है तो हमें आंखों नहीं सुहाता।

हम अपने मां-बाप से विरासत में जैसे अपनी शक्ल-सूरत पाते हैं, बोली-भाषा पाते हैं, वैसे ही अंधविश्वास व अंधमान्यताएं पाते हैं। अंधभक्ति का भावावेश पाते हैं। सांप्रदायिकता का वह प्रलोभन भी पाते हैं जो हमारी अंधमान्यताओं की जकड़ को मजबूत बनाता है। परंतु साथ-साथ मानवीय बौद्धिक संपदा के बीज भी पाते हैं। हम अपने मां-बाप से प्राप्त हुई शक्ल-सूरतें नहीं बदल सकते, पर इन मान्यताओं को अपनी बुद्धि के प्रयोग से और अपनी अनुभूतियों के बल पर अवश्य बदल सकते हैं। जितनी काम की हो उन्हें रख सकते हैं। जो निकम्मी हों उखाड़ कर फेंक सकते हैं। अक्ल का बिल्कुल इस्तेमाल न करे, स्वानुभूतियों का जरा भी अभ्यास न करे तो बिना समझे ही उन मान्यताओं को अपनी शक्ल व सूरत की तरह वैसी ही बनाये रखने की हर चन्द कोशिश ही है।

सत्य धर्म के अनुसंधान में अंधमान्यताओं के साथ कोई समझौता नहीं हो सकता। जहां-जहां भी अंधमान्यताओं का आग्रह है वहां धर्म नहीं सप्रदाय है, और समझना चाहिए कि कोई हमें स्वार्थवश या अज्ञानवश अपने बाड़े में बांधे रखना चाहता है। सत्य और धर्म के लिए विचार विमर्श और वाणी का स्वातंत्र्य

नितांत आवश्यक है। प्रत्यक्ष अनुभूतियों का अभ्यास उससे भी अधिक आवश्यक है, इन पर बेड़ियां लगीं हो तो समझो हम सत्य और धर्म से दूर भटक रहे हैं।

अनुमान और प्रत्यक्ष सत्य का गठबंधन बड़ा कल्याणकारी होता है। जो अनुभव करें उसे बौद्धिक स्तर पर समझें और जिसे बौद्धिक स्तर पर समझें उसे अनुभूतियों के स्तर पर जानें, यही सत्य-शोध है। इस सत्यशोध में शब्दसत्य भूमिका और मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है, बशर्ते कि हम उसका उपयोग खुले दिमाग से करें। लेकिन जब सत्य का शोधक किसी पूर्व मान्यता का पक्षधर हो जाता है तब सत्य का अनुसंधान छूट जाता है। फिर तो जीवन भर येन केन प्रकारेण अपनी मान्यता को सत्य सिद्ध करने में ही सारा परिश्रम लगा देता है।

किसी महापुरुष की अनुभूति-सिद्ध वाणी हो उस पर हमारी बुद्धि की कसौटी की परख हो और उसके आधार पर हमारा प्रत्यक्षानुभूति का अभ्यास हो तो सत्य धर्म का रथ ठीक दिशा में आगे बढ़ता है और गंतव्य तक पहुँचता है। आओ, सत्य के इन तीनों पूर्ण अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करते हुए हम असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, बंधन से मुक्ति की ओर बढ़ते चलें। इसी में हम सब का कल्याण, मंगल, भला समाया हुआ है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० आषाढ़ पूर्णिमा दि. ११-७-७६ अंक १)

धर्म-दर्शन

धर्म-दर्शन माने सत्यदर्शन। यहां दर्शन का अर्थ न फिलॉसफी है, न तत्त्व-विवेचन है, न किसी रूप-आकृति को देखना ही। यहां दर्शन का अर्थ है प्रत्यक्ष सत्य की स्वानुभूति। जीवन-जगत की सच्चाइयों को, प्रकृति के सर्वव्यापी विधान को प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही धर्म-दर्शन है, सत्यदर्शन है।

धर्म दुःखों से छुटकारा पाने के लिए है और दर्शन है इसका वैज्ञानिक अभ्यास। प्रकृति के वे नियम जो हम पर हर क्षण लागू होते हैं, जिनका हमसे सीधा संबंध है उनको जानना, समझना, स्वीकारना और अपने आपको उनके अनुकूल ढालना, यही धर्मदर्शन का उद्देश्य है। दर्शन के अभ्यास द्वारा हम इसमें जितने-जितने पकते हैं, उतने-उतने धर्म में प्रतिष्ठित होते हैं, सुख-शांति के सच्चे अधिकारी होते हैं। धर्मदर्शन का अभ्यास हमारे आध्यात्मिक उत्थान का सोपान-पथ है।

प्रकृति के वे नियम जिनका हमारे दुःखों से और दुःख-विमोचन से, हमारे बंधनों से और बंधन-विमुक्ति से सीधा संबंध है, उन्हें जानना और जानकर उनका अपने भले के लिये उपयोग करना ही धर्म है। जो दुःखों का कारण है उसका निवारण करना और जो दुःख-विमुक्ति का उपाय है उसको धारण करना यही सर्वव्यापी विधान से समरस कराने वाला आत्महित व सर्वहितकारी धर्म है। प्रकृति का कारण-कार्य वाला विधान सब पर लागू होता है। यह विधान न किसी पर कोप करता है न कृपा। कुदरत किसी का लिहाज नहीं करती। जो कानून तोड़ता है वह दंडित होता है, जो पालता है वह पुरस्कृत। अग्नि का धर्म जलाना है, यह प्रकृति का विधान है। हम अपनी नासमझी से अग्नि का दुरुपयोग करते हैं तो अपनी तथा औरों की हानि करते हैं और सदुपयोग करते हैं तो उसका भरपूर लाभ उठाते हैं। हमारे दुःख व दुःख-निरोध, हमारी नासमझी और समझदारी पर निर्भर करते हैं। निर्गुण, निराकार, व्यक्तित्वविहीन, सर्वव्यापी अनंत विश्व-विधान यानी विश्व धर्म में किसी के प्रति कोई पक्षपात का भाव है ही नहीं। यह विधान सब पर समानरूप से लागू होता है। जो इसमें समरस हुआ, वही दुःख-मुक्त हुआ। जितना-जितना समरस हुआ उतना-उतना दुःख-मुक्त हुआ। जब तक हम इस सच्चाई को ठीक-ठीक समझते नहीं, तब तक भटकते हैं और अपनी हानि करते हैं। ठीक-ठीक समझ लें तो भटकना छूट जाय। विधान यानी धर्म पालने के प्रयास में लग जायँ। ताकि अज्ञानवश विधान-विरुद्ध कर्मों के आचरण से जो कष्ट उठा रहे हैं, उनसे छुटकारा पा लें।

मोटे-मोटे तौर पर खान-पान, रहन-सहन से संबंध रखने वाले कुदरत के जो कानून कायदे हैं, उन्हें समझकर और उनके अनुसार चलकर हम शरीर से स्वस्थ रहते हैं। ठीक वैसे ही सूक्ष्मतर स्तरों पर जो कानून हैं उन्हें जान-समझकर और उनका पालन करके हम आंतरिक सुख-शांति हासिल कर सकते हैं।

रोग का कारण नहीं जानेंगें तो उसका निवारण नहीं कर पायँगे। कहीं और ही जा उलझेंगे जिसका रोग से दूर-परे का भी संबंध नहीं। यही अज्ञान है जो कि हमें रोग-मुक्त नहीं होने देता। रोग का सही कारण मालूम हो जाय और उस कारण के निवारण में लग जायँ, तो रोग-मुक्त होने में क्या संशय रहे?

जब मानवीय ज्ञान और प्रतिभा अपनी शैशव अवस्था में थी तब विस्मय-विभोर मानव, प्रकृति के हर स्वरूप को रहस्य-गुंफित ही देखता था। उसके सौम्य स्वरूप से मुग्ध हो उठता था और प्रचंड स्वरूप से भयभीत। सही कारणों को न जानने की उस अवस्था में भयभीत मानव ने कल्पना के सहारे किसी अदृश्य देव के प्रकोप को प्रकृति की विनाशलीला का कारण समझा और अपनी सुरक्षा हेतु उसकी प्रसन्नता का याचक बना, उसकी प्रशंसा में गीत गाए, उसका पूजन-अर्चन किया, उसे अन्न बलि ही नहीं, बल्कि निरीह-निरपराध पशुओं और मनुष्यों तक की बलि चढ़ा कर धरती को रक्त-रंजित किया। लेकिन जब सही कारण ही नहीं समझा तो रोग का इलाज कैसे होता? जिन थोड़े से मनुष्यों ने इन अंध-विश्वासों की अवहेलना की और सच्चाई की खोज की, उन्हें अपने श्रम का उचित फल मिला। उन्होंने प्रकृति की सच्चाइयों के बहुत से रहस्य खोज निकाले। प्लेग, हैजा, चेचक जैसी महामारियों के सही कारण मालूम किये। मेधावी मानव ने इन रोगों के उन्मूलन में अपनी सारी शक्ति लगा दी। अकाल और बाढ़ देखकर असहाय हो हाथ जोड़ने के बजाय उसने अपनी बुद्धि लगायी और पुरुषार्थ जगाया। नदियों पर बांध बांधे गये। सत्य की खोज करने वाले इन मानव मनीषियों ने इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अंध-विश्वास की जड़ें खोदीं और मानव जाति को सुख-साधन-समृद्ध करने में लगे रहे। स्तुत्य है मानव का यह सत्यशोधक अभियान जो कि अब अंतरिक्ष मापने के लिये अपना वामन कदम बढ़ा रहा है।

परंतु इस बाह्य अन्वेषण से कहीं अधिक आवश्यक और पूर्ण रहा अपने आंतरिक अंतरिक्ष का अन्वेषण, अपने आप से संबंध रखने वाली निसर्ग की सच्चाइयों की खोज। वे सच्चाइयां जिनकी वजह से हम दुःख-संतप्त हो जाते हैं और वे जिनकी वजह से हम दुःख-मुक्त हो सकते हैं। इनको न जानने की वजह से अपने दैनिक जीवन की कठिनाइयों का कारण इन देवी-देवताओं और जगदीश्वरों की रुष्टि पर, और निवारण उनकी तुष्टि पर आरोपित करने लगे।

और इसीलिए जब-जब छोटा या बड़ा दुःख आया तब-तब अपनी अबोध और भयभीत मनोस्थिति में हम उनकी मनौती मनाने लगे, उन्हें भेंट चढ़ाने लगे, उनके स्थानों की यात्रा पर जाने लगे, उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसाओं के स्तवन पाठ करने लगे। इन मनोकल्पित विधाताओं को प्रसन्न करने के लिए अनगिनत कर्मकांडों का सृजन और पालन करने लगे।

परंतु मानव जाति का प्रबुद्ध वर्ग इस आंतरिक सत्य की खोज में लगा रहा। अनेक युगों में ऐसे अनेक ऋषि, मुनि, संत, ज्ञानी, बुद्ध, जिन हुए जिन्होंने अंतर के अंतरिक्ष की खोज कर-करके यह सिद्ध किया कि हमारे दुःखों का मूल कारण और उसके उन्मूलन का उपाय हमारे भीतर ही है; कहीं बाहर नहीं। उन्होंने देखा कि इस चित्तधारा पर जब क्रोध, ईर्ष्या, भय, वासना, मात्सर्य आदि विकारों की विकृति आती है तब हम दुःख संतप्त हो उठते हैं और यदि ये विकार दूर हो जाय तो दुःख से विमुक्त हो जाते हैं। उन्होंने खोजा कि आखिर ये विकार भी क्यों पैदा होते हैं? और पाया कि समस्त विकारों की जननी तृष्णा है। प्रिय को प्राप्त करने की तृष्णा, अप्रिय को दूर हटाने की तृष्णा। भीतर ही भीतर कोई प्रिय सुखद संवेदना जाग्रत हुई कि राग-रूपी और कोई अप्रिय-दुःखद संवेदना हुई कि द्वेषरूपी तृष्णा जागी। खोज जारी रही और उन्होंने जानना चाहा कि ये प्रिय-अप्रिय, सुखद-दुःखद संवेदनाएं आखिर क्यों जागती हैं? तो उन्होंने देखा कि जब-जब आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छह इन्द्रियों का अपने विषयों – रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और चिंतन से संस्पर्श-संघात होता है, तब-तब भीतर ही भीतर शरीर और चित्त-स्कंध पर विभिन्न प्रकार की अनगिनत सूक्ष्म तरंगें पैदा होती हैं और अपने पूर्व संस्कारों व अनुभूतियों के आधार पर हम उन्हें प्रिय या अप्रिय की संज्ञा देते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि जब आंख, कान, नाक, जीभ पर किसी विषय का कोई स्पर्श नहीं हो रहा हो और परिणामतः संस्पर्शजन्य संवेदना नहीं हो रही हो तब भी शरीर और चेतना के स्तर पर तो जबतक जीवित हैं, तबतक प्रतिक्षण यह स्पर्श-संवेदनाएं होती ही रहती हैं और इन्हें प्रिय-अप्रिय मानकर हम राग अथवा द्वेष की प्रतिक्रिया करते ही रहते हैं। और उन्होंने यह भी देखा कि यह सारा का सारा प्रपंच अंतर्मन के उस स्तर पर चलता रहता है जिस स्तर पर कि हमें होश नहीं रहता। यानी हमें पता ही नहीं चलता कि कब स्पर्श हुआ? उसके परिणाम स्वरूप कब संवेदना जागी और उसकी प्रतिक्रिया करते हुए कब हम राग-द्वेष के स्रोत में पड़ गए? कब तनाव-खिंचाव की गांठें बांधने लगे और कब दुःखों का ढेर लगाने लगे? उन्होंने देखा कि ऊपर-ऊपर तथाकथित होश बने रहने पर भी भीतर ही भीतर बेहोशी, अज्ञान, अविद्या, मोह के माहौल में हम इस चित्तधारा में प्रतिक्षण अनजाने ही राग-द्वेष का मैल प्रवाहित करते रहते हैं।

वैसे ही जैसे नासूर में से पीप का आस्रव सतत बहता रहता है। इसी कारण दुःख-निमग्न हुए रहते हैं।

शोध जारी रहा। उन्होंने देखा कि जिस-जिस क्षण अंतर्मन की उन गहराइयों तक जागरूक रहते हैं, अप्रमत्त रहते हैं, अज्ञान, अविद्या और मोह से मुक्त रहते हैं, इस अनित्य प्रवाह को निर्लिप्त अनासक्त भाव से देखते रहते हैं उस-उस क्षण चित्तधारा पर नया राग नहीं जागता, नया द्वेष नहीं जागता। परिणाम स्वरूप पुराने आस्रव क्षीण होते हैं, पूर्व संचित मैल छँटता है। उन्होंने देखा कि बार-बार की समतामयी जागरूकता के अभ्यास से चित्तधारा निर्मल हुई जाती है और जितनी-जितनी निर्मल होती है उतनी-उतनी सद्गुणों से स्वतः संपन्न होती जाती है। जब नितांत निर्मल हो जाती है तब सर्वथा सद्गुण सम्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार स्वानुभूतियों के बल पर उन सत्यशोधकों ने देखा कि रोग का मूलभूत कारण और उसके निवारण का उपाय क्या है? निसर्ग ने अपने सारे राज, रहस्य उनके सामने खोलकर रख दिये। उन्होंने देखा कि सत्य-शोधन के इस प्रक्रम में उनकी अपनी चित्तधारा आस्रवों से, मैल से मुक्त हो गई है। उन्होंने पाया कि जो-जो व्यक्ति इस अन्तर्निरीक्षण और आत्मदर्शन के प्रक्रम को अपनाता है वह-वह निर्मल-चित्त हो दुःख-विमुक्त हो जाता है। सत्य-शोधन का यह प्रत्यक्ष लाभ मानव जाति की बहुत बड़ी उपलब्धि रही।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि जैसे बाह्य भौतिक जगत के वैज्ञानिकों की खोज का लाभ उठाते हुए हम उनके द्वारा किए शोध प्रयोगों में से स्वयं नहीं गुजरते, फिर भी हमें उनकी उपलब्धियों का सीधे लाभ मिलने लगता है, वैसे ही इस आंतरिक चैतसिक जगत की खोज का लाभ हमें स्वतः क्यों न मिले? हम उनके द्वारा खोजी गई सच्चाई को मान लें, उसमें श्रद्धा जगा लें। बस काम पूरा हुआ। हममें से प्रत्येक व्यक्ति उस शोध के प्रक्रम में से स्वयं क्यों गुजरे? धर्म-दर्शन का अभ्यास स्वयं क्यो करें? उत्तर यही है कि यह शोध-प्रक्रम ही तो उनकी खोज थी। यही तो हमारे रोग का इलाज है। जब तक कोई स्वयं आत्मनिरीक्षण न करे, तब तक दुःख-विमुक्त नहीं हो सकता। अपने चित्त के विकारों का स्वयं साक्षात्कार करके ही उनका उन्मूलन किया जा सकता है। यही तो औषधि है जिसका सेवन करना ही होता है। जैसे किसी चिकित्सा जगत के वैज्ञानिक ने खोज निकाला कि मलेरिया के रोग का अमुक कारण है और उस कारण का इलाज कुनैन की दवा है। अब कुनैन की दवा चाहे जितनी गुणकारी हो, उसे रोगी स्वयं सेवन करेगा तो ही मलेरिया से मुक्त होगा। इसी तरह विभिन्न प्रकार की विधियों में से भटकते हुए इन श्रेयार्थी साधकों ने धर्मदर्शन की दवा

खोज निकाली जो कि हजार राम-बाण औषधि हो तो भी इसका सेवन तो अनिवार्य है ही। उन शुद्ध बुद्ध मुक्त महापुरुषों की तो इतनी ही कृपा है कि उन्होंने रास्ता ढूंढ़ दिया। उस पर चलना तो हमें होगा ही। कोई अपने कंधे पर चढ़ाकर मंजिल तक पहुंचाने नहीं आयगा। "अपनी मुक्ति अपने हाथ" की सच्चाई को मानने का अर्थ अहंकारी बनना नहीं, बल्कि विनीत भाव से अपनी जिम्मेदारी को स्वीकार करना है।

साधको! मैं अपने तथा अपने परिचित हजारों साधकों के अनुभव के आधार पर कहता हूं कि इस प्रक्रिया के अभ्यास मार्ग में कहीं कोई अलौकिक चमत्कार नहीं है। जो उपलब्धि होती है वह स्वयं अपने कठिन परिश्रम से ही होती है। मेरे पास मेरा मैला मानसिक आंचल है। सौभाग्य से यह विधि साबुन स्वरूप प्राप्त हुई। मैंने इस साबुन का जितना प्रयोग किया, उतना ही मैल धुला, अधिक नहीं। जितनी मात्रा में मैल बचे हैं उतनी मात्रा में दुःख हैं ही। काम कुछ न करूं अथवा जरा सा ही करूं और मैल सारे धुल जायँ ऐसा कोई करिश्मा नहीं होता। वस्तुतः यह तो जीवन भर का काम है। सारे जीवन अपने आप के प्रति सजग सचेत रहना ही होगा, अप्रमत्त रहना ही होगा। सचमुच काम कठिन है पर दूसरा कोई रास्ता भी तो नहीं।

लेकिन हमारा भोलापन है कि हम कोई करिश्मे का रास्ता ढूंढ़ते हैं। ऐसा करिश्मा जिसकी वजह से हमें कोई कठिन श्रम न करना पड़े और सफलता भी मिल जाय। ऐसी अवस्था में हम फिर कल्पना-लोक की उड़ाने भरने लगते हैं। इतने मनीषियों द्वारा परम सत्य की खोज हो जाने के बाद यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हमारे दुःखों का कारण कोई देव या जगदीश्वर नहीं। हमारे अपने संचित कर्म-संस्कार ही हैं। परंतु फिर आशा बांधने लगते हैं कि हमारे द्वारा हजार दूषित कर्म करने के बावजूद कोई ऐसा सर्वशक्तिमान और करुणा-सागर है जिसे किसी प्रकार प्रसन्न कर लें तो वह हमारे सारे दुःखों को दूर कर देगा। इस आशा में फिर खुशामदें, भेंट, चढ़ावे का क्रम चल पड़ता है। हम नहीं जानते हम कर क्या रहे हैं? अंधभक्ति के भावावेश में हमने जिस भगवान का निर्माण किया उस बेचारे की ही कैसी मिट्टीपलीद कर रहे हैं? कैसा है यह भगवान जो अपने-सम्मान से प्रसन्न होता है? अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा प्रशस्तियों से फूलकर कुप्पा हो जाता है। जी हजूरी करने वाले खुशामदी लोगों पर कृपादृष्टि रखता है। भेंट चढ़ाने वालों पर अपना रहम बरसाता है। अपने प्रशंसक पर प्रसन्न होकर उसके काले को भी सफेद कर देता है। प्रवंचक अपराधी को निरपराधी के समकक्ष बैठा देता है। अहम का पुतला ऐसा कि कोई भूले चूके भी उसका नाम ले ले तो उसे झट तार देने पर तत्पर हो जाता है। ऐसी आसक्ति है उसे अपने नाम से! और ऐसी

आसक्ति है उसे अपने संप्रदाय से! जिस-जिस संप्रदाय का भगवान है, उस-उस संप्रदाय के व्यक्ति का पक्ष लेता है और अलग-अलग संप्रदायों के हमने अलग-अलग पक्षपाती भगवान खड़े कर लिये। अरे, कोई सीमा है हमारे भोलेपन की भी! क्या सचमुच इस विशाल विश्व की व्यवस्था ऐसे किसी शासक या शासकों के हाथ में है जो पक्षपाती हैं, दंभी हैं, निरंकुश हैं, कानून-कायदों को, धर्म-विधान को ठुकराकर मनमानी करने वाले हैं? दुर्गुण ही दुर्गुण के भंडार हैं।

यदि मान्यता ही करनी थी तो ऐसे दुर्गुणी की जगह किसी सद्गुण संपन्न देवता की करते ताकि उसके गुणों का चिंतन कर, उससे प्रेरणा पाकर स्वयं सर्व-गुण संपन्न होने में तो लगते। कल्याण तो सधता। परंतु अपने भोलेपन में हम अपना ही अमंगल साधने लगे। चित्त-विशुद्धि से ही दुःख-विमुक्ति है, इस विधान को स्वीकारते हुए भी चित्त विशुद्ध हो, न हो, इस विधान के परे किसी निरंकुश विधायक को प्रशंसाओं से प्रसन्न करने के भोलेपन में जुट गए।

धर्मदर्शन का अभ्यास हमें ऐसी भूलों से बाहर निकालता है। दुःख का कारण चित्त के दूषण हैं और चित्त के इन दूषणों से विमुक्त हो जाना ही दुःख-विमुक्ति है। निसर्ग का यह अटल नियम विधान, जितना स्पष्ट होता चला जाय, उतना चित्त-विशुद्धि को ही एक मात्र लक्ष्य मानकर हम धर्मपथ पर आरूढ़ हो जायँ। फिर तो विधान पालन ही हमारे लिए प्रमुख हो जाय, और सब गौण। विधान ही विधायक हो जाय, नियम ही नियामक हो जाय, सत्य ही नारायण हो जाय, धर्म ही ईश्वर हो जाय। विधान, नियम, सत्य, धर्म को ठुकराकर इनसे अलग किसी नारायण को प्रसन्न करने की बात मन में आए ही नहीं। धर्म छूटने में अमंगल ही अमंगल सूझे और धर्म-धारण में मंगल ही मंगल।

सत्य को ही ईश्वर मानकर उसके प्रति सविवेक श्रद्धा रखते हुए जब हम धर्म-दर्शन का अभ्यास करते हैं तब सचमुच जितना-जितना धर्मदर्शन यानी सत्यदर्शन होता है, उतने-उतने दुःखविमुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में अनंत प्रकृति की सूक्ष्मतर सच्चाइयों के साथ समरस होने लगते हैं और प्रकृति की यह सच्चाई अपने ही नियमों से बँधी होने के कारण स्वतः हमारी रक्षा करने लगती है। धारण करें तो धर्म स्वतः हमारी रक्षा करता है। इसके लिए उसकी अथवा किसी की भी खुशामद नहीं करनी पड़ती। यह धर्मनियमता है। जब हमारा मन दुर्गुणों में उलझता है और दूषित वृत्तियों की तरंगें पैदा करता है तो समस्त विश्व में व्याप्त वैसी दूषित तरंगों के साथ समरस होकर हमारे दुर्गुणों को और फलतः दुःखों को बढ़ाता है। ठीक इसी प्रकार जब हमारा मन दुर्गुणों से मुक्त होकर निर्मल होता है, सद्गुणों से भरता है, सद्वृत्तियों की तरंगें प्रजनन करने लगता है तब अनंत विश्व में

समायी हुई दृश्य-अदृश्य प्राणियों की, जो भी सात्त्विक देव-ब्रह्म हैं उनकी शुद्ध धर्ममयी सात्त्विक तरगें हमसे आ मिलती हैं, हमें बल प्रदान करती हैं और हमारा सुख-संवर्धन करती हैं, संरक्षण करती हैं। यही नियम है, विधान है, जो प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा सकता है।

किसी भी देश का राज्यविधान उस देश का धर्म होता है – वैसे ही यह सार्वदेशिक, सार्वजनीन, सार्वकालिक विश्वविधान, विश्वधर्म है। जब उस देश का नागरिक उस राज्यविधान के अनुसार जीवन-यापन करता है, विधान को तोड़ता नहीं, तो उसे विधायक के कुपित होने का कोई भय नहीं होता। दूसरी ओर बिना प्रार्थना-पुकार के उसकी सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी राज्य की ही होती है। परंतु जो विधान को, राज्य के कानून को कदम-कदम पर तोड़ता है और विधायक या शासक को खुश रखने के लिए उसकी खुशामदें करता है, उसे फूलपत्तियां चढ़ाता है तो ऐसा व्यक्ति न केवल अपनी बल्कि समस्त देश और समाज की सुख-शांति के लिए, व्यवस्था के लिए खतरनाक साबित होता है। जिस देश के लोग राज्य के कानून का सजग होकर पालन करें, उस देश में, समाज में सुख-शांति विराजेगी ही। इसी प्रकार इस विशाल विश्व-विधानरूपी धर्म पालन के अतिरिक्त सुख-शांति हासिल करने का और क्या साधन हो सकता है?

इसीलिए आओ, न केवल अपनी सुख-शांति के लिए। बल्कि सब की सुख-शांति के लिये धर्म धारण करें। विश्व विधान के अनुकूल जीवन जीएं और अटूट निष्ठा के साथ धर्मदर्शन के अभ्यास द्वारा चित्त को विकार-विहीन करने में लगें। इस अभ्यास में जो भी बाधाएं आयें, वे कितनी ही प्रिय लगने वाली क्यों न हों, वे हमारे मत-मतांतरों की रूढ़ मान्यताओं के कितनी ही अनुकूल क्यों न हों, उन्हें निर्ममतापूर्वक दूर करके "एकै साधे सब सधे" वाले अनन्यभाव से चित्त-विशुद्धि का अनथक प्रयत्न करते ही रहें, करते ही रहें। अनंत के कण-कण में समाये हुये मंगलमय परम सत्य का यही मंगल विधान है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० श्रावण पूर्णिमा दि. ९-८-७६ अंक २)

उदान (२)

सातत्य

पिछली बार उदान की एक गाथा पर चर्चा की थी, जिसका कि विपश्यना साधना के सक्रिय अभ्यास से विशिष्ट संबंध था। आज हम ऐसी ही तीन अन्य उदान गाथाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

(१)

यह उदान उस समय कहा गया जब कि एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में –

"आयस्मा महामोग्गल्लानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं सुपतिट्ठाय।"

यानी आयुष्मान महाभोग्गल्लान पांव मोड़कर पाल्थी मारे काया सीधी किए भगवान से न-अति-दूर बैठे थे और भीतर ही भीतर कायगतासति में सुप्रतिष्ठित थे। यानी कायानुपश्यना की जागरूकता में स्थित थे।

कायानुपश्यना के अनेक प्रकार हैं। इनमें सबसे उत्तम आनापान-सति यानी आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता का अभ्यास ही माना गया है। आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूक रहना कायानुपश्यना ही है। भगवान ने कहा है – **"कायेसु कायञ्ञतराहं भिक्खवे, एवं वदामि यदिदं अस्सासपस्सासा"**। यानी आश्वास-प्रस्वास को मैं काया में दूसरी काया कहता हूं। काया में आश्वास-प्रश्वास की इस दूसरी काया का दर्शन यानी अनुभूति करते हुए सिर से पांव तक और पांव से सिर तक सारे शरीर की अनुभूति होने लगती है। अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर काया के अनित्य स्वभाव की अनुभूति होने लगती है और इस प्रकार आसक्तिजन्य क्लेशों से सहज विमुक्ति होने लगती है।

कायगता सति का अभ्यास कभी-कभी किसी-किसी साधक को उसकी विशिष्ट मनोस्थिति को देखते हुए आनापान की अपेक्षा अधिक स्थूल अवस्था से आरंभ करना सिखाया जाता है। जैसे कि साधक अपने उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि शरीर के सभी बाह्य क्रिया-कलापों के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास आरंभ करता है। जैसे स्थूल बाह्य अंगों के हलन-चलन का निरीक्षण कराया जाता है, वैसे ही कभी-कभी किसी-किसी साधक को शरीर के भीतर के स्थूल अंग जैसे हृदय, फेफड़ा और इससे अधिक सूक्ष्म मांस-मज्जा आदि का

निरीक्षण कर उनके अशुभ अशुचि स्वभाव की अनुभूति करायी जाती है। किसी किसी साधक को किसी मुर्दे के सड़े-गले शव का निरीक्षण कर अपने शरीर को भी उसी स्वभाव वाला मान अशुभ अशुचि की अनुभूति करायी जाती है। परंतु आरंभ चाहे जिस स्थूल स्थिति से करें, साधक को पहुँचना उस सूक्ष्म स्थिति तक ही पड़ता है जहां कि काया का ठोस भासमान सत्य खंडित होकर परमार्थ स्वभाव मात्र अनुभूत होने लगे। कायानुपश्यना का साधक यदि काया के ठोस स्थूल सत्य तक ही सीमित रह जाय तो संस्कारों की जड़ें नहीं निकाल पाता। ठोस स्थूलता में व्यक्तित्व का भान है। जहां व्यक्तित्व है वहां "मै" "मेरा" "आत्मभाव" "ममभाव" की मरीचिका है ही। इस स्थूलता को भंग करके उसे सूक्ष्म स्वभावगत परमार्थ सच्चाइयों की ओर बढ़ना होता है। जहां चाहे हाथ हो या पांव, चाहे हड्डी हो या मांस परमार्थतः धातुओं का स्वभाव मात्र ही रह जाता है। आकाश यानी शून्य में पृथ्वी धातु, अग्नि धातु, जलधातु और वायुधातु का व्यक्तित्व-विहीन सम्मिश्रण मात्र महसूस होने लगता है। इन धातुओं की अपनी-अपनी अलग-अलग स्वभावगत अनुभूतियां हैं जो कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। पृथ्वीधातु का भारीपन-हल्केपन का स्वभाव, अग्निधातु का उष्ण या शीतल तापमान का स्वभाव, जलधातु का संयोजनशील स्वभाव और वायुधातु का हलन-चलन का स्वभाव। इस सूक्ष्म स्वभाव-निरीक्षण में अंगों की स्थूल आकृतियां नहीं रह पातीं। शरीर रसायन की इन सूक्ष्म सच्चाइयों की अनित्यता का स्वयं साक्षात्कार करता हुआ साधक अनासक्त होता है। उसका चित्त क्लेशों से विमुक्त होता है।

अवश्य ही भिक्षु महामोग्गल्लान कायागत सति की अति सूक्ष्म अवस्था में ही विचरण कर रहे थे। तो ही कहा गया – **"कायगतासतिया अज्झत्तं सुपतिट्ठाय"** यानी अभ्यंतर में कायगतानुस्मृति में सुप्रतिष्ठित हैं। काया की बाहरी हलन-चलन अथवा किसी बाहरी मुर्दे आदि को देखकर कायानुपश्यना नहीं कर रहे हैं, बल्कि आंख मूंदे अंतर्मुखी हुए अपने भीतर सूक्ष्म स्तर पर सिर से पांव के तलवों तक शरीर के अनित्यधर्मा, विपरिणामधर्मा, विनाशधर्मा स्वभाव की विपश्यना करने में सुप्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार समग्र शरीर की सूक्ष्म सच्चाइयों के प्रति जागरूक रहने वाला साधक अपनी छहों इंद्रियों के प्रति स्वभावतः जागरूक रहने लगता है। आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा के द्वारों पर विषयों का संस्पर्श होते ही काया में संवेदना होती है। इन शारीरिक इंद्रियों के अतिरिक्त मन पर भी शरीर का अथवा किसी चैतसिक विषय का संस्पर्श हो तो काया में संवेदना की तरंगें पैदा होती हैं। उनके निरीक्षण का अभ्यास करने लगें तो इंद्रियों के इन छहों द्वारों पर जागरूकता का पहरा लग जाता है और सहज ही इनका संयमन हो जाता है। इस अभ्यास में

जब साधक सातत्य लाता है यानी निरंतरता लाता है तो इंद्रियातीत, लोकातीत अनुपम परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। अपने निर्वाण को जान लेता है।

[२]

महामोग्गल्लायन को इसी प्रकार साधना में रत हुए देखकर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े –

'सतिंकायगता उपट्ठिता, छसु फस्सायतनेसु संवुतो।
सततं भिक्खु समाहितो, जञ्ञा निब्बानमत्तनो॥

समग्र कायस्कंध पर स्मृति यानी जागरूकता प्रतिष्ठित हो, छहों इंद्रियों के स्पर्श द्वारा पूर्ण जागरूकता के कारण संयत हो, साधक का चित्त जागरूकता के सातत्य में समाहित हो तो वह अपने निर्वाण को जान ही लेता है। उसका साक्षात्कार कर ही लेता है।

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही एक अन्य अवसर पर –

आयस्मा महाकच्चानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति। पल्लकं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं परिमुखं सुपतिट्ठाय॥"

यानी आयुष्मान महाकात्यायन भगवान से न-अति-दूर पांव मोड़कर पाल्थी मार कर कमर सीधी करके बैठे हैं और अंतर्मुखी होकर कायगता स्मृति में भलीभांति प्रतिष्ठित हैं। अर्थात काया में होने वाली अनुभूतियों के प्रति अभिमुख हो कर सजग हैं। यह देख भगवान के मुँह से ये उल्लास वाक्य निकल पड़े –

"यस्स सिया सब्बदा सति, सततं कायगता उपट्ठिता।
नो चस्स नो च मे सिया, न भविस्सति न च मे भविस्सति॥
अनुपुब्बविहारि तत्थ सो, कालेनेव तरे विसत्तिकं॥"

जिसकी स्मृति कायानुपश्यना में सर्वदा प्रतिष्ठित रहती है, शरीर के प्रति जिसकी जागरूकता में सातत्य बना रहता है, वह इस तथ्य के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो जाता है कि इस साधना द्वारा मैंने जिन कर्म-संस्कारों की निर्जरा कर ली, जिनका इस चित्तसंतति पर अब कोई बीज नहीं बच रहा, वे अपना कर्मफल लेकर मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। इसी प्रकार इस सतत जागरूकता के अभ्यास के कारण जो नये संस्कार नहीं बनने वाले हैं वे मेरे लिये सदा के लिये नहीं उत्पन्न होंगे। यानी पुराने क्षीण हुये, और नए बनेंगे नहीं। **"खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं"** इस स्वानुभूतिजन्य आश्वासन के कारण उसे पुराने संग्रह के प्रति चिंता उत्पन्न नहीं होती और न ही भविष्य में नए बना सकने का भय अथवा आशंका। इस

अभ्यास से वह निश्चिंत और निर्भय हो जाता है। शरीर पर जहां-जहां एक के बाद एक जो विभिन्न अनुभूतियां होती रहती हैं उनके प्रति विपश्यनाभाव से यानी साक्षीभाव से विहार करता हुआ वह साधक समय पाकर सारी आसक्तियों-विरक्तियों के पार चला जाता है यानी पूर्णतया अनासक्त हो, विमुक्त हो जाता है।

इस गाथा में 'अनुपुब्ब-विहारी' शब्द अत्यंत पूर्ण है। इसमें सक्रिय विपश्यना साधना की विधि समायी हुई है। 'अनुपुब्ब' माने क्षण-प्रतिक्षण, क्रमशः, एक के बाद एक, जो कुछ प्रकट होता हो। इस क्रमशः उत्पन्न हुये क्षण में विहार करना यानी इस प्रत्युत्पन्न क्षण में जीना, यही 'अनुपुब्ब-विहारी' का लक्षण है। शरीर और चित्त की संयुक्त धारा पर इस क्षण जो भी घटना घटित हुई अर्थात शरीर-स्कंध पर जो भी संवेदना महसूस हुई उसका भूतकाल की संवेदनाओं की यादों से कोई संबंध न हो, भविष्य में होने वाली संवेदनाओं की कामना कल्पना से कोई संबंध न हो, केवल वर्तमान क्षण की संवेदना का अनित्य स्वभाव ही महसूस हो। यही इस क्षण में जीना है, यही विपश्यना साधना है। संबंध हुआ कि तुलना होगी। मूल्यांकन होगा, अच्छे-बुरे का लेबल लगेगा और स्वभावतः प्रतिक्रिया स्वरूप नये राग और नये द्वेष का प्रजनन होगा। यह सब न हो और केवल इस क्षण के तथ्य को और उसके परिवर्तनशील स्वभाव को स्वीकार करके रह जाय तो उसके प्रति न राग जागेगा, न द्वेष। इस प्रकार आसक्ति-विरक्ति पर प्रहार होगा, अभ्यास में सातत्य आने लगेगा तो आसक्ति-विरक्ति निर्मूल होती चली जायगी।

इस गाथा के दो और शब्द साधकों के लिये विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। एक है 'सब्बदा' और दूसरा है 'सतत'। दोनों पर्यायवाची है, समानार्थी हैं। "सब्बदा सति" यानी सर्वदा जागरूक रहने की बात कह कर, **"सततं कायगता उपट्ठिता"** में पुनः सातत्य पर यानी निरन्तरता पर जोर दिया गया है। सारे आस्रवों को, मैलों को काट कर मुक्त अवस्था में स्थित होने और परम पद निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिये सचमुच यह "सब्बदा" और "सततं" अत्यंत अनिवार्य हैं।

जो गृहत्यागी हैं उन पर गृही की सी जिम्मेदारियां नहीं हैं। वैसी अड़चनें नहीं हैं। अतः वे यदि साधना की गंभीरता को समझें और कर्मकांडों और बुद्धि-विलासों से मुक्त होकर अभ्यास में सातत्य लाना चाहें तो ला सकते हैं। परंतु गृहस्थों के लिये कठिन है। इसीलिए उनके लिए कुछ दिनों का अभिनिष्क्रमण यानी गृह-त्याग आवश्यक है। वे दस दिन दें अथवा उससे लंबी अवधि के शिविरों में सम्मिलित हों, औरों से संबंध तोड़कर, सम्पूर्ण मौन रखते हुए अभ्यास की निरंतरता की ओर बढ़ सकते हैं। बर्मा जैसे देश में तो कोई कोई गृहस्थ कुछ दिनों या महीनों के लिये

सचमुच गृह-त्याग कर भिक्षु हो जाते हैं जिससे कि किसी योग्य भिक्षु आचार्य के साथ रह कर भिक्षु जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुये अभ्यास में सातत्य ला सकें। परंतु अधिकांश गृहस्थ साधक साधना काल के लिए घर छोड़कर किसी साधना केन्द्र में, गृहीवेश में ही रहते हुए अष्टशील का कड़ाई से पालन कर, विपश्यना के अभ्यास में निरंतरता लाने का सत्प्रयास करते हैं। घर में रहते हुए अथवा गृहत्यागी होकर भी बहुधंधी बने रहने से अभ्यास में सातत्य नहीं आ सकता।

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः एक बार आयुष्मान सारिपुत्र भगवान के समीप, पांव मोड़ कर पाल्थी मार कर काया सीधी कर बैठे साधना करते हुए– **"अत्तनो उपसमं पच्चवेक्खमानो"** यानी अपने उपशम अर्थात निर्वाण का प्रत्यवेक्षण कर रहे थे। इसे देख भगवान के मुँह से उदान के ये वाक्य निकल पड़े–

"उपसन्तचित्तस्स नेत्तिच्छिन्नस्स भिक्खुनो।
विक्खीणो जातिसंसारो मुत्तो सो मारबन्धना॥"

विपश्यना साधना के सतत अभ्यास से जिस शांतचित्त साधक के सारे कर्म संस्कार उपशांत हो गये हैं उसने अपनी भवरज्जु छिन्न कर ली है, संसार में उसका जन्म नष्ट हो गया है और वह मृत्युराज के बंधन से मुक्त हो गया है यानी जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा पा चुका है।

यही विपश्यना साधना की चरम उपलब्धि है।

इन मंगलमय उदान वाक्यों से हमारे मन में भी प्रेरणा जागे और इनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर हम भी अपनी विपश्यना साधना में सातत्य पैदा करके परम सुख निर्वाण का साक्षात्कार कर विमुक्त हों– यही मंगल कामना है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० भाद्रपद पूर्णिमा दि. ८-९-७६ अंक ३)

उदान (३)

अधिष्ठान

आज उदान की ही तीन और गाथाओं पर चर्चा करेंगे जिससे कि विपश्यना साधना के अभ्यास संबंधी मार्गदर्शन मिले और प्रेरणा भी।

(१) एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में –

आयस्मा सारिपुत्तो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा

यानी आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान के समीप पांव मोड़कर पाल्थी मारे बैठे थे और काया को सीधी रखकर आंतरिक सच्चाइयों के प्रति अभिमुख होकर जागरूकता में स्थित थे।

यह देखकर भगवान के मुँह से उदान के ये बोल निकल पड़े –

"यथापि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु, पब्बतोव न वेधतीति॥"

जैसे कोई शैल-पर्वत अचल होकर सुप्रतिष्ठित होता है वैसे ही मोह का संपूर्ण क्षय कर देने वाला निर्वाणदर्शी साधक पर्वत सदृश अचल अडोल हो जाता है।

निर्वाणिक अवस्था में चंचलता कहां?

[२] – इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः आयुष्मान सारिपुत्र भगवान के समीप पाल्थी मारे कमर सीधी कर बैठे हुए –

पणिधाय अप्पिच्छो सन्तुट्ठो पविवित्तो असंसट्ठो आरद्धवीरियो अधिचित्तमनुयुत्तो–

यानी अल्पेच्छु, संतुष्ट, अनासक्त, संसर्ग-विहीन, पुरुषार्थी, अधिचित्त में सजग हो साधना कर रहे थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के यह शब्द निकल पड़े –

"अधिचेतसो अप्पमज्जतो, मुनिनो मोनपथेसु सिक्खतो।
सोका न भवति तादिनो, उपसंतस्स सदा सती मतो॥"

अधिचित्त यानी चित्त की ऊंची अवस्थाओं में अप्रमत्त रहने वाला, मुनियों के मौन-पथ की यात्रा पूरी कर लेने में सुशिक्षित, शांतचित्त, सदा स्मृतिमान यानी

जागरूक साधक को दुःख नहीं छू पाता।

विपश्यना की जागृति के सतत अभ्यास द्वारा जो मार्ग के अंतिम छोर निर्वाण तक पहुँच गया है उसे भला शोक कैसा?

(३) इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर आयुष्मान चूलपंथक पांव मोड़े, पाल्थी मारे, कमर सीधी किये भगवान के समीप बैठे –

पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा यानी अपनी चित्त धारा पर जो भी आलम्बन उपस्थित हो उसी के प्रति अभिमुख हो, जागरूकता में प्रतिष्ठित हुये साधना-रत थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के ये वचन निकल पड़े –

"ठितेन कायेन ठितेन चेतसा, तिट्ठं निसिन्नो उद वा सयानो।
एतं सतिं भिक्खु अधिट्ठहानो, लभेथ पुब्बापरियं विसेसं॥
लद्धान पुब्बापरियं विसेसं, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥"

जिसका शरीर अडोल है, चित्त अडोल है, ऐसा साधक खड़े, बैठे अथवा लेटे शरीर की इन तीनों अवस्थाओं में स्मृतिमान हुआ, अधिष्ठान में स्थित है। वह मार्ग के आरंभ से लेकर अंत तक के पूर्वापर विशिष्ट फलों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा परम श्रेष्ठ फल प्राप्त कर, उच्चतम निर्वाणिक अवस्था में स्थित हुआ साधक मृत्यु-राज की दृष्टि से ओझल हो जाता है। यानी उस अवस्था में जा स्थित होता है जहां मृत्यु नहीं है; अमृत है।

आओ, भगवान के इन उदान वचनों में विपश्यना साधना के अभ्यास से संबंध रखने वाले शब्दों का दर्शन करें: –

'मौन' विपश्यना साधना का एक आवश्यक अंग है। विपश्यी साधक को मौन व्रत रखकर ही साधना के अभ्यास में लग जाना होता है। केवल वाणी का ही नहीं, बल्कि शरीर और मन के मौन का भी अभ्यास करना होता है। यह आर्यमौन का अभ्यास कहलाता है। वाचाल मन अनार्य यानी दुष्प्रज्ञ होता है। मन वाचाल हो, दुष्प्रज्ञ हो और केवल वाणी मौन रहे तो कोई मुनि नहीं बन पाता। आर्यमौन का अभ्यास ही मौन पथ की शिक्षा है जो कि हमें सही माने में मुनि बनाती है और परमपद का साक्षात्कार करवाती है। भगवान ने 'मुनि' की व्याख्या करते हुए कहा – **"यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति।"** यानी जो इहलोक और परलोक दोनों को माप लेता है वह मुनि कहलाता है। यहां 'मुनाति' का अर्थ मापना है। यानी जो साधना के अभ्यास के पूरे पथ को माप लेता है; अंतिम छोर तक पहुँच जाता है। अभ्यास का पथ आंतरिक अनुभूतियों के द्वारा मापा जाता है। इह लोक और पर लोक यानी काम-लोक और ब्रह्मलोक का सारा क्षेत्र इस साढ़े तीन हाथ

की काया के भीतर समाया हुआ है। यहीं साधक लोकों की उत्पत्ति और लोकों के निरोध की अनुभूति करता है और यहीं लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार भी। साधना के अभ्यास के दौरान निरय लोक की नारकीय यंत्रणाओं से लेकर काम-लोकों की दिव्य अनुभूतियों और तदनंतर सरूप-ब्रह्मलोक से लेकर भवाग्र तक के अरूप-ब्रह्मलोक तक की ब्राह्मी अनुभूतियों का मार्ग पार करके जब साधक भवातीत, लोकातीत, इन्द्रियातीत, नाम-रूपातीत अक्षय-निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है तभी **"यो मुनाति उभो लोके"** होता है और तभी **"मुनि तेन पवुच्चति"** यानी मुनि कहलाता है। सभी लोकों को मापने का काम अधिचित्त में यानी ऊँची समाधियों में समाहित होते हुए अप्रमत्त बने रहने पर पूरा होता है। तभी **लभेथ पुब्बापरियं** यानी मार्ग के आदि से अंत तक के सभी पूर्वापर अनुभव प्राप्त करता हुआ 'विसेसं' यानी विशिष्ट की, लोकोत्तर निर्वाण की उपलब्धि कर लेता है। यही साधक का **"मोन पथेसु सिक्खितो"** होना है यानी मुनियों के मौन पथ पर सुशिक्षित होना है।

जो मौन पथ में सुशिक्षित होता है, उसे **सदा सतीमतो** होना नितांत आवश्यक है। 'सदा सतीमतो' माने सतत स्मृतिमान, सर्वदा अप्रमत्त, जागरूक। साधक का जितना समय प्रमाद में बीतता है उतनी देर मन वाचाल या प्रसुप्त रहता है। सातत्य बना रहे तो सजग-मौन हो जाता है। उपशांत ओर वीतशोक हो जाता है।

मन वाचाल होकर क्या करता है? अनुभूत संवेदनाओं की परस्पर तुलना करता है, उनका मूल्यांकन करता है और प्रतिक्रिया स्वरूप नए कर्मसंस्कार उत्पन्न करता है। किन्हीं संवेदनाओं को नारकीय मानकर उनसे द्वेष और किन्हीं को ब्राह्मी मानकर उनसे राग करता है। मन मौन रहता है तो राग-द्वेष उत्पन्न करने वाला मूल्यांकन बंद होता है। स्थितप्रज्ञ होता है। तोलता है तो प्रज्ञा की तुला पर ही। परित्याग करता है तो राग-द्वेष रूपी पापों का ही और ग्रहण करता है तो समता तथा अनासक्ति रूपी धर्म-सार को ही, इस प्रकार वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह होता हुआ सभी लोकों से परे लोकातीत तक जा पहुँचता है।

मन को पूर्ण मौन बनाने के अभ्यास के पूर्व वाणी और शरीर को मौन करना अत्यन्त आवश्यक है। वाणी वाचाल रहे और काया अस्थिर रहे तो मन चंचल रहता ही है और मन चंचल रहे तो अधिचित्त की आध्यात्मिक ऊंचाइयां प्राप्त करनी असंभव हैं। इसीलिये काया, वाणी और चित्त तीनों का मौन यानी आर्यमौन आवश्यक है। साधक पहले वाणी के मौन का व्रत लेता है और **ठितेन कायेन** में **अधिट्ठहानो** होता है। यानी कायिक अधिष्ठान का अभ्यास करता है। निश्चित

समय के लिये शरीर अचल अडोल रखता है। साथ ही साथ क्रमशः क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहता हुआ मन को मौन बनाने का यानी अचल अडोल बनाने का अभ्यास करता है। इस प्रकार **ठितेन चेतसा** हो **एतं सतिं अधिट्ठहानो** होता है। यह अधिष्ठान की साधना विपश्यी साधक के लिये अपरिहार्य है। इसी अभ्यास द्वारा मुक्ति का मार्ग शीघ्रता से मापा जाता है।

विपश्यना साधना में शैल-पर्वत के समान **अचलो सुपतिट्ठितो** होने का बहुत महत्त्व है। इसीलिये अधिष्ठान का अभ्यास है। अभ्यास के दौरान जितनी देर शरीर अचल रहे उतना ही अच्छा। यही कारण है कि विपश्यना के अभ्यास में चलने-फिरने आदि के स्थान पर **तिट्ठं निसिन्नो उद वा सयानो** को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। वैसे जागरूकता का अभ्यास चलते-फिरते भी किया ही जाता है और विपश्यी साधक को करना भी चाहिये। जब-जब नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिए चलने-फिरने, खाने-पीने, नहाने-धोने आदि के शारीरिक क्रिया-कलाप हों तब-तब उन-उन स्थूल क्रियाओं के प्रति तो जागरूकता रखनी ही चाहिये साथ-साथ भीतर की सूक्ष्म संवेदनाओं की भी जानकारी बनाये रखनी चाहिये। यह सच है कि अधिष्ठान में अचल बैठे रहने पर साधक अपने अंतरतम की जितनी सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति कर सकता है उतनी हिलते-डुलते नहीं। फिर भी अभ्यास द्वारा चलते-फिरते, खाते-पीते भी कुछ एक संवेदनाओं का बोध हो ही सकता है। अतः बाहरी स्थूल क्रिया-कलापों के साथ-साथ भीतरी संवेदनाओं को भी जितनी बन पड़े उतनी जानते रहना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि महज स्थूल क्रियाओं के प्रति जागरूकता का लंबा अभ्यास उन सूक्ष्म संवेदनाओं को अनुभव कर सकने की क्षमता ही लुप्त कर दे। विपश्यना साधना में सारे शरीर में होने वाली सूक्ष्मतम संवेदनाओं के प्रति **सदा सती मतो** होना आवश्यक है। इसीलिये अधिक से अधिक समय अधिष्ठान का अभ्यास ही उपयोगी माना जाता है। अधिष्ठान बैठे, खड़े या लेटे ही हो सकता है, चलते-फिरते या खाते-पीते नहीं।

इन तीनों में भी बैठने की अवस्था अभ्यास के लिये अधिक उपयोगी है। इसलिए जहां तक हो सके बैठे रह कर ही अभ्यास करने पर बल दिया जाता है। प्रस्तुत तीन उदानों में ही नहीं, बल्कि इस तरह के जितने भी उदान उपलब्ध हैं, उन सब में हम देखते हैं कि भगवान ने किसी साधक को **निसिन्नो होति,** यानी बैठे हुये ही देखा। चलते-फिरते का तो प्रश्न ही नहीं। खड़े या लेटे भी नहीं। और बैठना भी सब का एक ही प्रकार है। **पल्लकं आभुजित्वा** यानी पांव मोड़कर पाल्थी मार कर। पांव मोड़ने का अर्थ पद्मासन या अन्य कोई विशिष्ट आसन लगाना नहीं है। कोई साधक पद्मासन लगाकर बैठना चाहे तो भले बैठे परंतु यह

अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक साधक को अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार पांव मोड़कर सुखपूर्वक पाल्थी मारकर बैठना चाहिये। पड़ोसी देश में विपश्यना साधना की जो परंपरा पहुँची और अब तक कायम है, उसमें पदमासन अथवा अन्य किसी विशेष आसन के लिये कोई आग्रह नहीं है।

हम देखते हैं कि इस **निसिन्नो होति पल्लकं आभुजित्वा** के साथ-साथ सर्वदा **उजु कायं** शब्द का प्रयोग हुआ है। अभ्यास की परंपरा में इसका भी बड़ा महत्त्व है। पाल्थी मारकर बैठने पर कमर, पीठ और गर्दन सीधी हो तो ही ऋजुकाय होती है। काया सीधी रखने का अर्थ कोई अकड़न पैदा कर लेना नहीं है। बिना कृत्रिम तनाव के काया सीधी रखनी चाहिये। जैसे हैंगर पर टंगी हुई कमीज बिल्कुल सीधी होती है, उसमें अकड़न नहीं होती।

अधिट्ठहानो यानी अधिष्ठान का अभ्यास करते हुए साधक को **यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** यानी शैल पर्वत की तरह अचल अडोल रहना होता है। **ठितेन कायेन** की इस अधिष्ठान की अवस्था में **सदा सतिमतो** रहते हुये **लभेथ पुब्बापरियं** यानी पूर्वापर की विभिन्न अनुभूतियों को **ठितेन चेतसा** अडोल चित्त से स्वीकारना होता है। यानी क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होने वाली शरीर और चित्त की अवस्थाओं को महज साक्षीभाव से देखते हुये, **उदय व्यय** और **भंग** स्वभाव वाली नश्वरता की अनुभूति करते हुये **संस्कार उपेक्षा** में स्थित होना होता है जिससे कि नये संस्कार बनने बंद हो जायँ और पुराने क्षीण होने लगें। इस अभ्यास द्वारा सतत जागरूकता रखते हुये स्वतः ऐसी अवस्था आती है जब साधक भवाग्र से परे भवातीत, लोकाग्र से परे लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। यह अवस्था इन्द्रियातीत है। जितने क्षण निर्वाण का साक्षात्कार चलता है उतनी देर आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर की त्वचा और मन का पूर्णतया निरोध हुआ रहता है। यही अवस्था **मोहक्खया** पूर्ण मोह-क्षय की अवस्था है। इस अवस्था में **भिक्खू** यानी साधक **पब्बतो व न वेधती** पर्वत की तरह अडोल हो जाता है। अधिष्ठान का अभ्यास करते समय तो साधक स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा अपने शरीर को अडोल बनाता है। परंतु इस भवातीत, लोकातीत, इन्द्रियातीत अवस्था में शरीर स्वतः अडोल हो जाता है। सही माने में **पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** शैल पर्वत की तरह अचल हो जाता है। अक्सर यह देखा गया है कि कोई बलिष्ठ व्यक्ति अपना पूरा बल लगाकर भी उस निर्वाणिक अवस्था में पहुँचे हुये साधक का हाथ-पांव खोलना चाहे तो असफल होता है। अंग-प्रत्यंग ऐसे दृढ़ हो जाते हैं जैसे वेल्डिग द्वारा परस्पर जुड गये हों। और फिर भी यह जड़ समाधि नहीं होती। क्योंकि भीतर से साधक प्रतिक्षण जागरूक रहता है। सचेत

रहता है। हां, किसी के द्वारा उसके शरीर को स्पर्श किये जाने की चेतना उसे नहीं रहती। क्योंकि इंद्रियातीत अवस्था में उसकी चेतना का आलंबन कोई ऐंद्रिय विषय नहीं हो सकता, बल्कि उससे परे इंद्रियातीत निर्वाण होता है। कई घंटों तक ऐसी अचल, अडोल निर्वाणिक अवस्था में बैठे रहने के बाद जब साधक ऐंद्रिय क्षेत्र में पुनः प्रवेश करता है तो फूल की पंखुड़ी की तरह हल्का होकर उठता है। शरीर में कहीं कोई पीड़ा नहीं, अकड़न नहीं, मूर्छा नहीं। कषायों के अपरिमित बोझ से मुक्त हुआ साधक हल्कापन ही महसूस करता है।

मृत्युराज की गति उदय-व्यय के स्वभाव वाले तरंगीय क्षेत्र तक ही सीमित है जो कि ऐंद्रिय क्षेत्र है। इहलोक और परलोक का क्षेत्र है। परंतु विपश्यी मुनि साधक इन दोनों को मापकर आगे निकल जाता है और इसके परे अनुदय, अव्यय, तरंगातीत स्वभाव वाले **अजात अभूत अमत असंङ्गत** निर्वाणिक क्षेत्र को प्राप्त करता है। उस क्षेत्र को, जो कि **अदस्सनं मच्चुराजस्स** यानी मृत्युराज के लिए अदृश्य है। जो मृत्युराज के लिए अदृश्य है वह विपश्यी साधक के लिए दृश्य हो जाता है।

उदान वाणी का एक अर्थ यह भी है कि वह वाणी जो हमारे भीतर उदात्त भावों का प्रजनन कर हमारे उत्कर्ष में सहायक हो। इस अर्थ में उदान उद्‌बोधन शब्द का पर्यायवाची है, भगवान के ये उदान वचन हमारे लिए सही माने में उद्‌बोधन का काम करें, हम इनकी शाब्दिक व्याख्या सुन-समझकर ही न रह जायँ, बल्कि इनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर विपश्यना के वास्तविक अभ्यास में लगें। हम भी मौन का अभ्यास करें, आर्यमौन का। समय-समय पर अधिष्ठान का अभ्यास करें और विपश्यना के इस अभ्यास में सातत्य बढ़ाते हुए काया और चित्त को शैल सदृश अविचल बनाकर अधिष्ठित करें, जिससे कि परम पद निर्वाण का साक्षात्कार कर सकें।

हमारा मंगल हमसे यही अपेक्षा करता है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० आश्विन पूर्णिमा दि. ८-१०-७६ अंक ४)

देखने मे मात्र देखना ही हो!

मुंबई महानगरी से लगभग ५० मील दूर पश्चिम रेलवे पर एक छोटा सा स्टेशन है – नल्ला। समीप ही समुद्र के किनारे एक छोटा सा गांव है – सुप्पारा। २,५०० वर्ष पूर्व के भारत का यह अत्यंत प्रसिद्ध और पूर्ण बंदरगाह था। उस युग की मुंबई। नाम था सुप्पारक पत्तन। पत्तन कहते थे बंदरगाह को।

उन दिनों इस सुप्पारक महानगरी में एक अत्यंत वृद्ध संन्यासी रहता था। सिर पर सन से सफेद बालों की जटा, चेहरे पर वैसी ही लंबी दाढ़ी और मूंछ, कृश शरीर पर वल्कल वस्त्र, सब मिलाकर बड़ा भव्य व्यक्तित्व था उस संन्यासी का। विपुल जनसंख्या वाली उस महानगरी के अनेक धनीमानी लोग संन्यासी के श्रद्धालु भक्त थे। सैकड़ों की संख्या में नित्य दर्शन करने आते, चरणों की धूलि सिर पर चढ़ाते, पुष्कल दान-दक्षिणा, भरपूर खाद्य सामग्री और दवादारू अर्पित कर अपने आपको धन्य मानते। भक्तों द्वारा गायी गई महिमा ने संन्यासी के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि वह अवश्य ही अरहंत अवस्था को प्राप्त हो गया है; जीवनमुक्त हो भवबंधनों से छूट गया है।

परंतु एक दिन किसी हितैषी ने बड़े प्यार से उसे समझाया कि नहीं, वह अभी अरहंत नहीं हुआ है और न ही अरहंत होने के मार्ग पर आरूढ़ है। संन्यासी को सदमा लगा। पर वह समझदार था। आत्म चिंतन करने पर यह समझते देर नहीं लगी कि जब तक चित्तधारा पर विकारों का प्रवाह जारी है तब तक कोई अरहंत कैसे हो सकता है? जीवनमुक्त कैसे हो सकता है? उसने स्वयं महसूस किया कि एकाग्रता के अभ्यास के बावजूद उसकी चित्तधारा सर्वथा विकारशून्य नहीं हुई है।

उसने उत्सुकतावश प्रश्न किया – "क्या इस जगत में कोई ऐसा व्यक्ति भी है जिसकी चित्तधारा विकारों से पूर्णतया मुक्त हो गई है? जो अरहंत हो गया है?"

उत्तर मिला – "हां, अवश्य है। उत्तर भारत में राजनगरी कपिलवस्तु का शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ गौतम घर से बेघर हो, परम सत्य की खोज में निकल पड़ा और वर्षों की खोज के पश्चात चित्त को समस्त विकारों से विहीन करने की विधि उसने स्वयं खोज निकाली और अभ्यास कर अरहंत अवस्था प्राप्त कर ली। वह सम्यक रूपेण स्वयं बुद्ध है। इस समय वह भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे हैं। जिस विधि से उन्हें मुक्ति मिली, उसे वे

अत्यंत करुण चित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।"

संन्यासी ने यह सुना तो मन में विचारों का एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। मुझे भी घर से बेघर हुए वर्षों बीत गए। संन्यास इसीलिए धारण किया था कि सारे बंधनों से छूट कर नितांत विमुक्त हो जाऊं। परंतु देखता हूं ऐसा तो नहीं ही हुआ। यह बाहरी-बाहरी वेषभूषा, कर्मकांड और त्याग-तप की व्रतचर्या ने इन बाहरी लोगों को ही आकर्षित किया है, जिसके कि परिणाम स्वरूप इतना मान-सम्मान, गौरव-गरिमा, पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही है। पर इन बेचारों को क्या पता कि मेरे चित्त की वास्तविक अवस्था क्या है! ये तो मेरा बाह्य चारित्र्य ही देखते हैं। परंतु मुझे इस झूठे मान-सम्मान से क्या लेना-देना? जिस लक्ष्य के लिए घर-बार छोड़ा वह तो अनुपलब्ध ही रहा। चित्त परम विशुद्ध विमुक्त कहां हुआ? चित्त-विशुद्धि की साधना मानव जीवन में ही शक्य है और मेरी यह वृद्ध अवस्था! मैंने अपने अनमोल जीवन का कितना भाग व्यर्थ खो दिया! उसे लगा शेष जीवन बहुत ही अल्प रह गया है। मन में, निराशा छा गई। इतने थोड़े समय में अब क्या हो सकता है?

तभी उसके मन में अभी-अभी सुने शब्द गूंजने लगे कि "जिस विधि से उन्हें स्वयं मुक्ति मिली उसे भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध अत्यंत करुणाचित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।"

इससे उसके मुरझाए मन में एक नया जीवन जाग उठा। जीर्ण-शीर्ण शरीर में युवकों की सी बलवती स्फूर्ति उमड़ पड़ी और वह तत्काल चल पड़ा – श्रावस्ती की ओर। कहां सुदूर पश्चिमी तट के अपरान्त प्रदेश की राजधानी सुप्पारक और कहां उत्तर में हिमालय के चरणों में स्थित कौशल प्रदेश की राजधानी श्रावस्ती! कितना लंबा रास्ता! भगवान अर्हंत सम्यक संबुद्ध के दर्शन और उनसे चित्त-विशोधन की विद्या सीखने की धर्म अभिलाषा ने संन्यासी के मन में ऐसा अदम्य उत्साह भर दिया कि जिससे इस लंबी यात्रा का श्रम उसे श्रम जैसा नहीं लगा। इसीलिए सारी यात्रा भर केवल एक ही रात पूरा विश्राम कर सकने पर भी जब श्रावस्ती पहुँचा तो थकान महसूस नहीं हो रही थी।

यह है श्रावस्ती का जेतवन विहार। लेकिन यहां पहुँचने पर विहार-वासियों ने बताया कि भगवान तो इस समय भिक्षाटन के लिए शहर की ओर गए हुए हैं। उन्होंने संन्यासी से कहा कि वह कुछ देर विहार में विश्राम कर ले। तब तक भगवान लौट आएंगे।

परंतु धर्म-संवेग प्राप्त परिव्राजक को विश्राम कहां? उसने राजनगरी श्रावस्ती की ओर शीघ्रता से कदम बढ़ाए। कुछ दूर चलने पर भगवान सम्यक

संबुद्ध को राजपथ पर भिक्षाटन के लिए जाते हुए देखा और अपलक, अवाक् देखता ही रह गया। कैसा महान मंगल-विधायक व्यक्तित्व! धीर-गंभीर सौम्य शांत मुखमुद्रा, करुणा-विगलित नयन, शरीर के अंग-अंग में प्रस्फुटित संयम और शांति की अनुपम आभा, अंग-अंग के अणु-अणु से प्रवहमान अनंत मैत्री की अजस्र तरंगें। श्रद्धाविभोर संन्यासी ने भगवान के सामने घुटने टेक दिए, उनके चरणों पर सिर रख दिया।

– 'भन्ते भगवान! मुझे धर्म दीजिए! सुगत! मुझे शुद्ध धर्म की साधना सिखाइए, जिससे मेरा चिरकाल तक हित-सुख सधे।"

– "धर्म सिखाने के लिए यह अनकूल समय नहीं है संन्यासी! तथागत इस समय भिक्षाटन पर निकले हैं। विहार लौटकर अवश्य सिखायेंगे।" भगवान ने कहा।

– "भन्ते भगवान! जिंदगी का क्या भरोसा? न मेरी जिंदगी का, न आपकी जिंदगी का? इस समय आप के प्रति मेरी श्रद्धा भी सजीव है भगवन! कृपा कर अभी धर्म सिखाएं, जिससे चिरकाल तक मेरा हित-सुख सधे।"

संन्यासी द्वारा दुबारा, तिबारा आग्रह किए जाने पर वहीं राह पर एक ओर रुक कर भगवान ने उसे धर्मदेशना दी। संक्षेप में धर्म-साधना सिखायी।

कहा – "इस प्रकार अभ्यास करना सीख **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति'–** देखने में मात्र देखना ही हो। **'सुते सुतमत्तं भविस्सति'–** सुनने में मात्र सुनना ही हो। इसी प्रकार सूंघने में मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना, और जानने में मात्र जानना ही हो।

समझदार संन्यासी ने भगवान के इस संक्षिप्त उपदेश को खूब सविस्तार समझा।

आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छहों इंद्रिय द्वारों में से जिस क्षण जिस किसी द्वार पर, जिस किसी विषय का यानी रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य और विकल्प का संस्पर्श संघात हो, उस क्षण उसी की जानकारी हो और केवल जानकारी मात्र होकर रह जाय। जिस क्षण जो हो रहा है, उस क्षण वही जानें। देखना तो मात्र देखना, सुनना तो मात्र सुनना, सूंघना तो मात्र सूंघना, चखना तो मात्र चखना, छूना तो मात्र छूना, सोचना तो मात्र सोचना और केवल जानकर ही रह जायँ। कोई प्रतिक्रिया न करें।

सतत अभ्यास द्वारा टुकड़े-टुकड़े करके काल के उस छोटे से छोटे हिस्से तक जा पहुँचें जिसे चित्त क्षण कहते हैं। देखेंगे कि इस एक नन्हें से चित्त-क्षण में एक

साथ दो घटना नहीं घटती। परंतु काल-धारा अत्यंत तीव्र गति से प्रवहमान होती रहती है जिससे कि एक-एक क्षण को और उस एक-एक क्षण में घटने वाली घटना को हम अलग-अलग करके जानने की क्षमता गँवा बैठे हैं। तेज चलने वाले चलचित्र सदृश इस जीवनधारा को गतिशील ही देखते रहने के इतने आदी हो गए हैं कि इस फिल्म-रील के एक-एक चित्र को अलग-अलग देख ही नहीं पाते। इसी से दृष्टि-भ्रम होता है, मरीचिका पनपती है। इसी से पूर्वापर संबंध जुड़ता है और प्रपंच बढ़ता है। रागद्वेष और मोहमूढ़ता का प्रपंच। कैसे?

छह इंद्रिय द्वारों में से जिस किसी पर इस क्षण जो घटना घटी उसे केवल जानकर ही नहीं रह जाते बल्कि झट "संज्ञा" द्वारा पहचानते हैं। 'संज्ञा' यानी चेतना का वह हिस्सा जो कि पूर्व अनुभूतियों के बल पर पहचानने का काम करता है। 'संज्ञा' ने पहचाना कि हुआ प्रपंच आरंभ। छूट गया यह क्षण। लगे अतीत में भ्रमण करने। ऐसी अनुभूति पहले भी हुई थी या इससे मिलती-जुलती हुई थी और हुई थी तो अच्छी लगी थी या बुरी। यह मूल्यांकन होते ही प्रपंच और आगे बढ़ने लगता है। चेतना का वह भाग जिसे 'संस्कार' कहते हैं झट अपना काम करने लगता है। उसका काम है प्रतिक्रिया करना। इस क्षण का देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और सोचना अच्छा लगा तो राग की और बुरा लगा तो द्वेष की प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है। मन भविष्य में लोट-पलोट लगाने लगता है। ऐसा हो, ऐसा न हो। यों भूतकाल की याद और भविष्य की कामना कल्पना चित्तधारा पर राग द्वेष की रेल-पेल चलने लगती है। इस क्षण जो देखना आदि हुआ उसे महज देखना आदि ही मानकर रुक जाय तो न आरंभ होता है न ही प्रपंच बढ़ता है। अनारंभी ही प्रपंच-मुक्त होता है।

साधक ध्यान देता है तो देखता है कि शरीर के पांच द्वारों पर स्पर्श-संघात की अनुभूति जितनी बार और जितनी देर होती है उसके मुकाबले मन पर होने वाली कहीं अधिक है। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की अपेक्षा सोचने का काम अनंत गुना अधिक होता है। जो घटना मन पर ही घटी, उसकी रेल-पेल तो मन पर चलती ही है, परंतु जो इन पांच कायेन्द्रियों में से किसी पर घटी उसकी भी प्रतिक्रिया मन पर ही होती रहती है। यह सारा प्रपंच, बढ़ाव, फैलाव मन से ही होता है। क्योंकि आरंभ मन से ही होता है। जब तक हम जीवित हैं और तन-मन के छह आयतन [खिड़की-दरवाजे] खुले हैं तब तक हर क्षण किसी न किसी आयतन से कुछ न कुछ प्रवेश होता ही रहता है और उसे लेकर यह पागल आरंभी मन राग-द्वेष आरंभ कर प्रपंच बनाता ही रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त-विशुद्धि कहां? चित्त-विमुक्ति कहां?

क्षण-क्षण के टुकड़े-टुकड़े कर के उन्हें अलग-अलग नहीं जानने से प्रत्युत्पन्न यानी वर्तमान को अतीत और अनागत से गड्ड-मड्ड किए रहते हैं। इससे एक और कठिनाई पैदा होती है। घटनाओं के इस तारतम्य में एक सूत्र पिरोया हुआ आभासित होता है – अहंभाव का, अस्मिताभाव का, आत्मभाव का एक अविरल सूत्र। इसी से एक "मैं का अस्तित्व" उभरता है। धीरे-धीरे यह 'मैं है' की प्रतीति 'मै हूं' में परिवर्तित होकर दृढ़ मूल हो जाती है। यह 'मैं हूं' जिसने कि बचपन से अब तक ऐसी-ऐसी अनुभूतियां की और यह 'मैं हूं' जो भविष्य में ऐसी-ऐसी अनुभूतियां करेगा। 'मैं हूं' का यह भ्रम इस अस्तित्वहीन 'मैं' के प्रति आसक्तियां पैदा करता है जो कि राग और द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करती है। यह 'मैं हूं' की अविद्या ही है जो कि राग द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करती है और रागद्वेष की मोहमूढ़ता ही है जो कि 'मैं हूं' को परस्पर बलवान बनाती रहती है।

साधक अपने सतत अभ्यास द्वारा फिल्म की रील के टुकड़े-टुकड़े कर लेता है तो 'मैं हूं' का भ्रम टूटता है। 'मैं हूं' फिर 'मैं है' में परिवर्तित होता है और 'मैं है' भी केवल लोक-व्यवहार के लिए रह जाता है। इसमें 'मैं' के अलग-थलग व्यक्तित्व की भ्रांति दूर होती है। एक-एक क्षण का अपने आप में अलग-अलग साक्षात्कार होने लगता है। भ्रम टूट कर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है। प्रज्ञा जागती है, अविद्या का सारा क्लेश दूर होता है। राग-द्वेष की नई गांठें बँधनी बंद होती हैं और पुरानी खुलने लगती हैं।

तब देखने में 'देखता हूं' का भ्रम दूर होता है। 'देखने में मात्र देखना' ही रह जाता है। जैसे देखने में मात्र देखना, वैसे ही सुनने में मात्र सुनना, सूंघने में मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना रह जाता है और ऐसे ही जानने में मात्र जानना रह जाता है। 'कर रहा हूं' या, 'भोग रहा हूं' की जगह 'हो रहा है' की सच्चाई प्रकट होती है। भोक्ताभाव और कर्ताभाव की माया विदीर्ण होती है। अहंभाव, अहंकारविहीनता में प्रतिष्ठित होता है। आत्मभाव अनात्मभाव में बदलता है।

अब तक तो केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही साधक यह मानकर चलता था कि यह काया और यह चित्त-प्रपंच 'मैं नहीं हूं, मेरा नहीं है, मेरी आत्मा नहीं है।' परंतु अब महज मानने की बात नहीं रह जाती। अब तो वह स्वानुभूतियों के बल पर इस सच्चाई को स्वयं जान लेता है और उसे स्पष्ट होता है कि इन ऐन्द्रिय अनुभूतियों के कारण किसी "मैं" का अस्तित्व नहीं है और तब यह भी स्पष्ट होता है कि इन ऐन्द्रिय अनुभूतियों में भी किसी "मैं" का अस्तित्व नहीं है। न यह

ऐन्द्रिय अनुभूतियां किसी "मैं" को धारण किए हुए है और न कोई 'मैं' इन इन्द्रियों को धारण किए हुए है।

यही बात संन्यासी को समझाते हुए भगवान ने कही कि जब तुम्हें **'दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति**... यानी देखने में देखना मात्र... आदि होने लगे तो **"ततो त्वं न तेन"** यानी इस देखने, सुनने आदि के कारण से 'तुम हो' यह भ्रांति दूर होगी और तभी **"ततो त्वं न तत्थ"** यानी इस देखने, सुनने आदि में तुम हो यह भ्रम भी मिटेगा। ऐसी अहं-शून्य स्थिति होते ही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार होगा। **"एसेवन्तो दुक्खस्सा"** यही दुखों का अंत है।

मेधावी संन्यासी भगवान के दिए हुए इस संक्षिप्त उपदेश को विस्तार से केवल समझकर ही नहीं रह गया, बल्कि उसे अभ्यास में उतारने लगा। जिसे अपनी मृत्यु समीप दिखे उसे प्रमाद के लिए अवकाश कहां? वहीं कहीं एक ओर बैठकर अंतर्मुखी हुआ और अविरल चित्तधारा के टुकड़े-टुकड़े करके प्रत्येक क्षण जैसा है वैसा अलग-अलग देखने लगा। देखते-देखते ही अस्मिताभाव टूटा, पूर्व संस्कारों से छुटकारा मिला और चित्त अनासक्त हो आस्रवों से विमुक्त हो गया। परम पद निर्वाण का साक्षात्कार हो गया। संन्यासी कृतकृत्य हुआ, धन्य हुआ। अल्प बचा जीवन सफल सार्थक हुआ। भगवान भिक्षाटन से लौटे तो उसकी जीवन लीला पूरी हो चुकी थी। भिक्षुओं ने भगवान से उसकी गति पूछी तो भगवान ने कहा कि वह सभी गतियों के परे अर्थात गतिमुक्त हो गया है। परिनिर्वाण को प्राप्त होगया है। उस समय भगवान के मुँह से उदान के ये बोल निकल पडे जिनमें कि अनिर्वचनीय निर्वाणिक अवस्था के लिए नकारात्मक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

यत्थ आपो च पथवी, तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति, आदिच्चो नप्पकासति॥

न तत्थ चन्दिमा भाति, तमो तत्थ न विज्जति।
यदा च अत्तनावेदि, मुनि मोनेन ब्राह्मणो।
अथ रूपा अरूपा च, सुख दुक्खा पमुच्चति॥

जहां न पथ्वी, न जल, न अग्नि और न वायु का ही प्रवेश है। जहां न शुक्र की ज्योति है, न सूर्य का प्रकाश है, न चंद्रमा का उजाला है और जहां आलोक का अभाव भी नहीं यानी अंधकार भी नहीं है। कोई ब्राह्मण मुनि मौन पथ पर चलकर इसे स्वयं जान लेता है तो सारे रूप - और अरूप लोकों से पार चला जाता है। सुख-दुख के द्वन्दों से मुक्ति पा लेता है।

यहां "अत्तनावेदि" शब्द साधकों के लिए ध्यान देने योग्य है। कोई साधक परम सत्य को 'स्वयं जानकर' ही मुक्त हो सकता है।

हम नहीं जानते कि सुप्पारक पत्तन में वह संन्यासी किस नाम से पुकारा जाता था, पर पाली वाङमय में वह 'बाहिय दारुचीरिय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी को उसका नाम पूछने का और उसको अपना नाम बताने का अवकाश ही कब मिला? बाहर प्रदेश से आया था शायद इसलिये उसे 'बाहिय' [बाह्य] कहा गया हो अथवा यह भी संभव है कि बाहर के संप्रदाय का था इसलिये 'बाहिय' कहा गया हो। दारु यानी पेड़ की छाल अर्थात् वल्कल के चीवर पहने हुए था इसलिए जिसने देखा उसने 'दारुचीरिय' कहा। इस प्रकार 'बाहिय दारुचीरिय' नाम अमर हो गया। पर क्या पड़ा है नाम में? संप्रदाय में? देश में? वेश में? जो भी आंतरिक सच्चाइयों का स्वयं सूक्ष्मता से साक्षात्कार कर लेता है "अत्तनावेदि" हो जाता है, वही मुक्त हो जाता है।

धन्य है यह धर्मगंगा जिसमें कोई भी डुबकी लगाकर शुद्ध-बुद्ध, विमल-विमुक्त हो जाता है! न यह जाति पूछती है न गोत्र, न देश, न वेश, न वर्ग, न वर्ण, न समुदाय, न संप्रदाय! इसका न कोई अपना है न पराया, वाहरी है न भीतरी, देशी है न परदेशी! इस धर्मगंगा में जो नहाए सो निहाल!

ऐसी कल्याणकारिणी सार्वजनीन धर्मगंगा सब को मिले! सब का भला हो! सब का मंगल हो! सबकी विशुद्धि-विमुक्ति हो!

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० कार्तिक पूर्णिमा दि. ६-११-७६ अंक ५)

उदान (५)

आर्य-मौन

एक पुरानी कथा है।

दो हंस और एक कछुआ किसी तालाब के किनारे रहते थे। हंस समझदार थे। अक्सर चुप रहते, जब जरूरी होता तभी बोलते। सो भी बहुत कम। कछुआ मूर्ख था। दिन भर बक-बक करता रहता। मतलब-बेतलब की हजार बातों में उलझा रहता।

एक दिन हंस अपने देश मानसरोवर लौटने की तैयारी करने लगे। कछुए ने जाना तो गिड़गिड़ाकर बोला, 'मुझे भी ले चलो। मानसरोवर का बड़ा नाम सुना है।'

हंस नहीं माने। बोले, 'हमारे देश के लोग मौन-प्रिय हैं। तुम दिन भर बकवास करने वाले; वहां निभ न सकोगे।'

कछुए ने वायदा किया, वह पूर्ण मौन व्रत पालेगा, उसे अवश्य ले चलें। हंस इस वायदे पर राजी हुए। उन्होंने एक लकड़ी ली और कछुए से कहा कि इसे बीचो-बीच अपने दांतों से कसकर पकड़ ले। इसके बाद दोनों हंस तथा उस लकड़ी के बीच झूलता हुआ कछुआ भी साथ-साथ उड़ चला। कछुए को आसमान की यह सैर बहुत भली लगी। वह हंसों को बताना चाहता था कि कितना खुश है! बोलना चाहा, पर तभी मौन व्रत याद आया और चुप रहा गया।

तीन मित्रों की यह टोली आगे बढ़ती गई। हंस उड़ते गए, उड़ते गए। उड़ते-उड़ते एक गांव पर से गुजरे। गांव के लोगों ने देखा तो आपस में बात-चीत करने लगे - 'देखो, कैसी विचित्र बात है! हंस एक मुर्दे कछुए को उड़ाए लिए जा रहे हैं।

अब तक कछुआ मौन रहा; पर यह सुनकर तिलमिला उठा। बातूनी जीव से रहा न गया। चुप्पी बर्दाश्त न हो सकी। चीख कर बोला - 'मैं मुर्दा नहीं, जिंदा हूं, जिंदा! 'मुँह खुलते ही लकड़ी दांतों से छूट गई और वह धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा। हड्डी-पसली चूर-चूर हो गई। अब सचमुच जिंदे से मुर्दा हो गया।

यह बोध कथा बातूनी लोगों के लिए है जिससे कि वे मौन का महत्त्व समझें। साधकों के लिए मौन पालन, साधना की सफलता के जीवन-मरण का प्रश्न है। साधना शिविरों में जब वे अभ्यास के लिए आते हैं तो उन्हें खूब सतर्क रह कर

परस्पर बात-चीत न करने का व्रत पालना चाहिए। अपने कल्याणमित्र से भी बोलें तो वह साधना के अभ्यास संबंधी ही बात हो और वह भी उतनी ही जितनी कि नितांत आवश्यक हो सार्थक हो, निरर्थक बातों में कदापि न लगें। अपना अमूल्य समय जरा सा भी न गंवाएं।

भगवान बुद्ध अनमोल समय के सदुपयोग के पक्षधर थे। निक्कमी बातों में समय गँवाने का सदा विरोध करते थे। कोई भाई उनके पास आया है और कहता है–

'भगवान! आप बार-बार दुःख और दुःख-विमुक्ति पर ही बोलते हैं। कृपया यह तो बताइये कि यह दुःख होता किसे है? और दुःखों से विमुक्ति होती किसकी है?'

करने वाले ने निरर्थक प्रश्न किया। पर भगवान ऐसी निरर्थक चर्चा में उलझने वाले नहीं थे। बड़े प्यार से समझाते हुए बोले, 'अरे भाई! तुम्हें प्रश्न करना ही नहीं आया! प्रश्न यह नहीं करना चाहिए था कि दुःख 'किसे' होता है; बल्कि यह करना चाहिए था कि 'क्यों' होता है? प्रश्न यह नहीं करना चाहिए था कि दुःख से विमुक्ति 'किसको' होती है; पर करना यह चाहिए था कि 'कैसे' होती है?'

सार्थक बात, मतलब की बात यही है। दुःख से छुटकारा पाएं और इसके लिए जानना यह आवश्यक है कि दुःख का कारण क्या है? और इसका निवारण क्या है? इसे छोड़ अन्य सभी चर्चाएं निकम्मी-निरर्थक नहीं, तो और क्या हैं?

कभी कोई भाई उनसे पूछ बैठता - 'भगवान! बताएं इस संसार को किसने बनाया? '

तो फिर प्यार से समझाते---'अरे भाई! किसी विष-बुझे तीर से घायल व्यक्ति को यह जानना कतई आवश्यक नहीं है कि तीर किसने बनाया? उसके लिए आवश्यक यही है कि जिस तीर से वह घायल है उसे शीघ्र निकाल बाहर करे, जिससे कि पीड़ामुक्त हो, दुःख-मुक्त हो।'

कितना छोटा सा जीवन है मनुष्य का? इसे महज बुद्धि-रंजन में, बुद्धि किलोल में बिता दें, यह कितनी ना-समझी है? विस्मय-विभोर होकर जिज्ञासा-पूर्ति में और कौतूहल-मंगल के भिन्न-भिन्न खेल खेलने में बिता दें, यह कितनी नादानी है? किसी महाकारुणिक सम्यक संबुद्ध को यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है? मनुष्य जीवन का उचित से उचित और अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह न केवल बौद्धिक स्तर पर अपने दुःखों के कारण और उनके निवारण को समझ सकता है बल्कि साक्षात्कार के स्तर पर

उनका स्वयं दर्शन कर नितांत दुःख-विमुक्त भी हो सकता है, निर्वाण के लिए इस अनूठी विशेषता का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए इसलिए भगवान तथागत न स्वयं निरर्थक बातों मे उलझते, न किसी साधक को उलझने देते थे सदा मतलब की ही बात करते थे।

एक दिन भिक्षुओं के साथ जंगल के एक वृक्ष की छांह में बैठे हुए उन्होंने धरती पर पड़े मुट्ठीभर पत्ते हाथ में लिए और जंगल के पेड़ों की ओर इशारा करते हुए कहा कि जैसे इस महावन के समस्त वृक्षों पर लगे कुल पत्ते अनगिनत हैं वैसे ही जिस व्यक्ति को सम्यक संबोधि प्राप्त हो जाय उसकी जानकारी अपरिमित होती है। लेकिन वह नासमझी में पड़ कर अपनी सारी जानकारी लोगों तक पहुँचाने की भूल नहीं करता। उनका और अपना समय व्यर्थ नष्ट नहीं करता। वह थोड़ी ही बात करता है जो कि काम की होती है जैसे कि पेड़ों पर लगे अनगिनत पत्तों के मुकाबले यह मुट्ठी भर पत्ते। जो काम की बात नहीं है उसे वह जवान पर लाकर लोगों को उलझाता नहीं।

इसलिए भगवान अपने साधना विहारों में साधकों को भी सदा निरर्थक बातों से दूर रहने का उपदेश देते थे। जब कभी देखते कि भिक्षु-साधक बैठे गप्पें लड़ा रहे हैं; राज कथा, चोर कथा, शिल्प कथा, वैभव कथा आदि में उलझ रहे हैं तो उन्हे प्यार से डांटते और समझाते कि श्रद्धा-पूर्वक घर से बेघर हो जिस काम के लिए यहां आए हो, उसमें लगो, निरर्थक बातों में नहीं। उन्होनें ऐसे बातूनी साधक भिक्षुओं को फटकारते हुए अनेक बार कहा -

'सन्निपतितान वो, भिक्खवे, द्वयं करणीयं, धम्मिया वा कथा, अरियो वा तुण्ही भावो।

यानी इकट्ठे बैठने पर, भिक्षुओं! तुम्हें दो ही बात करनी चाहिए - या तो धर्म कथा या आर्य-मौन।

धर्म कथा माने मतलब की कथा। ऐसी बातें जिनसे शुद्ध धर्म जाने और अपना मतलब सधे। साधना के लिए आकर बेमतलब की बातों में समय न गँवा बैठें। कल्याणमित्र से भी बात-चीत करनी ही हो। तो केवल धर्मकथा करनी चाहिए। ऐसी धर्मकथा जैसे कि 'अल्पेच्छ कथा, संतुष्टि कथा, प्रविवेक कथा, पुरुषार्थ कथा, असंसर्ग कथा, शील कथा, समाधि कथा, प्रज्ञा कथा, विमुक्ति कथा, विमुक्ति-ज्ञान दर्शन कथा।' ऐसी कथा जो कि 'चित्त के आवरण को दूर करने वाली हो, दुःख का नितांत उन्मूलन करने वाली हो, विकारों का पूर्ण विराग, निरोध उपशमन करने वाली हो, अभिज्ञान, संबोधि, निर्वाण दिलाने वाली हो' ऐसी कथा जिससे 'साधक निर्मलतालाभी हो, सुखलाभी हो, शांतिलाभी हो।'

उसी स्वस्थ परंपरा को निबाहते हुए आज भी विपशयना शिविरों में इस बात पर जोर दिया जाता है कि जब कभी अपने कल्याण मित्र से चर्चा करनी हो तो वह सार्थक होनी चाहिए, निरर्थक नहीं। धर्मकथा होनीं चाहिए, बुद्धिकिलोलनी कथा नहीं, वाद-विवादनी कथा नहीं। बाकी सारे समय तो **'अरियो तुण्ही भावों'** यानी 'आर्य-मौन' ही पालना चाहिए।

आर्यमौन माने केवल वाणी का ही मौन नहीं, शरीर और मन का भी मौन। वाणी का मौन तो नितांत आवश्यक है ही, इसलिए मौन व्रत दिया जाता है। अन्यथा निरर्थक बातें कर करके समय ही नहीं खो देंगे पर जाने-अनजाने असत्य बोल जायेंगे तो जो पांच शील लिये हैं उनमें से एक भंग कर लेगें और जहां शील भंग होगा वहां साधना भवन की नींव कमजोर पड़ जायगी। इतना ही नहीं, बात करेंगे तो शिविर में सम्मिलित हुए अन्य साधकों का ध्यान भंग कर के अकुशल आसुरी कर्म के दोषी बनेंगे। औरों की हानि करेंगे, अपनी भी हानि करेंगे। विपश्यना मार्ग का नए से नया पथिक भी इस सच्चाई को शीघ्र देखने लगता है कि उसका मन कितना वाचाल है, कितना बातूनी है! भीतर सदैव कुछ ना कुछ बोलता रहता है। कभी कोई मतलब की, पर अक्सर बेमतलब की ऊल-जलूल बात बोलता ही रहता है। अब देखता है कि उसके इस बातूनी मन को और अधिक चारा मिल गया है। अब वह देर तक उसी चर्बित चबैने की जुगाली करने लगा है। मौन होने का नाम तक नहीं लेता।

वाणी से मौन रहते हुए साधक काया को भी मौन रखने का अभ्यास करे। काया का मौन कैसे भंग होता है? वाणी का मौन व्रत लेकर साधक अक्सर अपने शरीर के जरिए बात-चीत करता है। हाथों, आंखों अथवा शरीर के अन्य अंगों को हिला-डुलाकर इशारों में बातें करता है। कभी-कभी जुवान हिलाये बिना, होठ खोले बिना 'ऊं-आं' की खग-भाषा में वार्तालाप करता है। कभी-कभी इससे भी आगे बढ़ता है तो कागज पेन्सिल लेकर लिख पढ़कर बात-चीत कर लेता है। यह सब शरीर द्वारा मौन भंग करना हुआ, जो कि वाणी के मौन-भंग से किसी प्रकार भी कम हानिकारक नहीं है। शरीर के मौन का अभ्यास करने वाला साधक इन सब से बचे। शरीर के पूर्ण मौन का अभ्यास करने के लिये साधक बार-बार अधिष्ठान में बैठे, बिना हिले-हुले। अधिष्ठान में बैठने के अतिरिक्त जब कभी नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिये लेटने, उठने, नहाने-धोने, खाने-पीने, चलने-फिरने की कोई शारीरिक हलन-चलन करनी पड़े तो उसके प्रति पूर्ण जागरूक रहने का अभ्यास करे। शरीर की हर हरकत सचेत रहकर करे। यही शारीरिक मौन का अभ्यास है।

मन को मौन रखने का अभ्यास भी उसे जागरूक रखकर ही किया जाता है। किसी भौतिक अथवा आध्यात्मिक नशे द्वारा उसे प्रसुप्त करके नहीं, बल्कि यथार्थ के प्रति सतत सचेत रखते हुये।

यही **'अरियो तुण्ही भावो'** है, यानी आर्यमौन है जिसका पहला कदम वाणी के मौन से आरंभ होता है। जो वाणी का मौन ही नहीं रख सकता यानी आर्यमौन का पहला कदम ही नहीं उठा सकता, वह आगे के दोनों कदम कैसे उठा पायेगा? यानी शरीर और मन का मौन कैसे निभा पायेगा? जो वाणी से वाचाल होगा वह शरीर से उद्धत उद्दण्ड होगा ही और मन से स्मृति-विहीन तथा मोह-विमूढ़ित होगा ही।

एक बार भगवान कुशीनगर के शालवन में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि कुछ एक भिक्षु भगवान से न-अति दूर अन्य कुटियों में निवास करते हुए अत्यंत उद्धत उद्दण्ड हैं, चपल हैं। क्योंकि मुखर हैं वाचाल, बातूनी हैं; बतरस लोभी हैं। इधर-ऊधर की गप्पें हांकने वाले हैं और इसलिए प्रमत्त हैं, स्मृति-विभ्रम हैं। मोह-मूढ़ता में निमग्न हैं, बेहोश हैं, अस्थिरचित्त हैं, भ्रांतचित्त हैं और गुप्तेन्द्रिय होने के बजाय प्रकटेंद्रिय हैं यानी इंद्रियों के प्रति संयमित रहने की बजाय नितांत असंयमित हैं, इन बतरस चटोरों की यह दयनीय शारीरिक और मानसिक दशा देख कर ही भगवान ने उस समय उदान के यह शब्द कहे।–

'अरक्खितेन कायेन, मिच्छादिट्ठिहतेन च।
थीनमिद्धाभिभूतेन, वसं मारस्य गच्छति॥

- 'यानी मूढ़ व्यक्ति कायिक संयम को खोये हुए, मिथ्या दृष्टियों में उलझे हुए, आलस्य में डुबे हुए मृत्युराज के वश में जा रहा है।'

'तस्मा रक्खितचित्तस्स, सम्मासङ्कप्पगोचरो।
सम्मादिट्ठिपुरेक्खारो, ञत्वानं उदयव्ययं।
थीनमिद्धाभिभू भिक्खु, सब्बा दुग्गतियो जहे॥

- 'इसलिए चित्त को वश में रखने वाला, सम्यक संकल्प का अभ्यासी, सम्यक दर्शन में श्रद्धापूर्वक लगा हुआ अपने भीतर संवेदनाओं के उत्पाद-व्यय की सम्यक विपश्यना करने वाला साधक निरालस अप्रमादी होकर सभी दुर्गतियों से छुटकारा पा ले'

पता नहीं भगवान के इन प्रताड़नाभरे उदान वचनों से उन प्रमादी भिक्षुओं पर क्या असर पड़ा? तत्संबंधी वाङ्मय इस संबंध में मौन है। परंतु हम अन्यत्र देखते हैं कि भगवान की धर्मफटकार का साधकों पर बिजली का सा असर होता

था। वे सचेत होकर सन्मार्ग में लग जाते थे।

त्रिपिटक में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें कि शांतिप्रिय भगवान तथागत ने कोलाहल करने वाले भिक्षुओं को अपने साधना केन्द्र से निकाल बाहर किया। एक बार तो स्वयं धर्मसेनापति सारिपुत्र को अपने अनेक साथियों सहित इस अनुशासनभरे निष्कासन का शिकार होना पड़ा था, जो कि उन सब के कल्याण का कारण बना।

एक अन्य अवसर पर हम देखते हैं कि भगवान जेतवन के अनाथपिंडिक संघाराम में विहार कर रहे हैं। तब श्रमण यशोज के नेतृत्व में ५०० भिक्षु भगवान से मिलने आए। ये नवागत भिक्षु स्थानीय भिक्षुओं को नमस्कार करते हुए अपने लिए सोने-बिछौने का प्रबंध करते हुए और साथ लाए हुए भिक्षा-पात्रों और चीवरों को इधर-उधर रखते हुए उच्चशब्द, महाशब्द कर रहे थे। मौन प्रेमी भगवान तथागत ने जब मछुआरों के से हल्ले-गुल्ले का यह शोर-शराबा सुना तो इन भिक्षुओं को पास बुलाकर डांटते हुए आज्ञा दी - 'निकल जाओ यहां से! तुम लोग मेरे पास रहने योग्य नहीं हो!'

यशोज सहित सभी भिक्षु भगवान को अभिवादन कर संघाराम के बाहर आए। वे कौशल प्रदेश के बाहर पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। वहीं आयुष्मान यशोज ने अपने साथियों को इकट्ठा करके कहा– 'भगवान ने हमें दंड दिया है। हम पर उनकी अनुकम्पा ही है। वह हमारे हित-सुख के लिए ही है! आओ! ऐसा करें जिससे भगवान हम पर प्रसन्न हों।'

और वे सब के सब, अपनी पिछली भूल से सबक लेते हुए, पूर्ण मौन का पालन करते हुए, अप्रमत्त हो साधना में लग गए। कुछ दिनों में ही वे सब कृत-कृत्य हुए, प्राप्त-प्राप्य हुए। जिसे पाने के लिए घर से बेघर हुए थे उसे प्राप्त करने में सफल हुए। उन महामुनि के मौन-पथ का सम्यक अनुसरण कर निहाल हुए, निर्वाण लाभी हुए। सचमुच आर्यमौन विपश्यी साधकों का अनमोल आभूषण है।

प्रकृति ने हमें दो कान दिए हैं, पर मुँह एक ही। इसका अर्थ हुआ सुनें अधिक, बोलें कम। प्रकृति ने दोनों कान स्वभाव से खुले रखे हैं और मुँह स्वभाव से बंद। यानी सुनने पर कोई रोक नहीं, पर बोलने पर पूरी रोक। जब बोलना अत्यंत अनिवार्य हो जाय तो ही मुँह खोलें। अत्यंत आवश्यक हो उतनी ही बात करें। केवल काम की बात, मतलब की बात, धर्म की बात अन्यथा मौन! पूर्ण मौन! आर्य मौन!!

धन्य हैं वे साधक जो भगवान की चेतावनीभरी उदान-वाणी को हृदयंगम

कर मौनव्रती हुए, साधनारत हुए और जीवनमुक्त हुए! आओ, हम भी उस चिर कल्याणी वाणी से लाभान्वित हों, सतत अभ्यास रत हों और मंगल-लाभी हों! आओ! हम भी आर्यमौन का अभ्यास करें। मौन रहने में हमारी वाणी इतनी सध जाय कि हमसे कोई कायिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारी वाणी इतनी सध जाय कि हमसे कोई वाचिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारा मन इतना सध जाय कि कोई मानसिक दुष्कर्म हो ही न सके।

परम मंगल की उपलब्धि का यही एक मात्र मंगल मार्ग है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० मार्गशीष पूर्णिमा दि. ६-१२-७६ अंक ६)

अपराधी और विपश्यना

-- भगवान सिंह साईवाल

[निरीक्षक उप-कारागृह, महानिरीक्षक, कामगार कार्यालय, जयपुर। (राज.)]

प्राचीन भारत में राजा प्रसेनजित की प्रजा बड़ी ही भयभीत थी। राजा से नहीं डाकू के आतंक से। हां, उसके राज्य में एक बड़ा ही खूंखार, भयानक और निर्मम डाकू था। बात बहुत ही पुरानी है, आज से कोई पच्चीस सौ वर्ष पहले की। दया-भाव का उसके पास क्या काम? आदमियों को देखते ही उन पर गृद्ध की तरह झपटता था और बात की बात में उन्हें मार-मार कर उनकी अंगुलियां काट कर अपनी माला में पिरो लिया करता था। अगुलियों की माला पहन कर जंगल में स्वच्छंद रूप से घूमने वाला वह जालिम डाकू, उन दिनों अंगुलिमाल के नाम से पुकारा जाता था। राजा प्रसेनजित की सेना भी अंगुलिमाल से भयभीत थी और उसे काबू करने में असफल रही। इतिहास बताता है कि अंगुलिमाल ने ९९९ मनुष्यों की हत्या की और उसके गले की माला में भी ९९९ अगुलियां पिरोई हुई थीं किन्तु जब वह एक हजारवीं अंगुली अपनी माला में पिरोने के चक्कर में था, तभी सामने से आते हुए एक व्यक्ति पर वह झपटा परंतु इस पर उसका खड्ग नहीं उठ सका, उसके कदम डगमगाने लगे। वह व्यक्ति आगे बढ़ता था तो अंगुलिमाल के पीछे हटते हुए हर कदम के साथ-साथ उसका जंगलीपन दूर होता जा रहा था। हाथ से तलवार छूटी, तीर-धनुष फेंक दिए। अंगुलियों की माला को गले से निकाल फेंका। डाकू अंगुलिमाल उस शान्त सौम्य एवं करुणामय व्यक्तित्व के समाने स्थिर न रह सका। अंगुलिमाल झुक गया। उसके जंगलीपन में विवेक की तरंगें उठने लगीं। मामूली वार्तालाप से ही प्रकृति का नियम उसकी समझ में आने लगा, ऋत को पहचाना और शुद्ध धर्म को जीवन में धारण किया। अवश्य ही अंगुलिमाल के जंगलीपन को उस महामानव ने विपश्यना के धर्मजल से धोकर निर्मल बनाया होगा।

इतिहास की सच्चाई है कि वह महामानव भगवान बुद्ध ही थे जिन्होंने न केवल विपश्यना साधना से अपनी बोधि को जगाया, वरन् अंगुलिमाल जैसे राक्षस और आम्रपाली जैसी वेश्या सहित असंख्य गुमराह नर-नारियों को शुद्ध धर्म की दीक्षा देकर 'विपश्यना साधना' के माध्यम से उन्हे 'स्व' का साक्षात्कार कराके जीना सिखाया। विपश्यना साधना के अभ्यास से उन दिनों न जाने कितने ही अंगुलिमाल जैसे चोर-डाकुओं और हत्यारों ने अपने अंतर की आग बुझा कर शेष

जीवन सुख-शांति से बिताया होगा। इस तथ्य को तो इतिहास के पन्ने ही उजागर करेंगे लेकिन मैं इस जमाने की बात आगे करता हूं–

'विपश्यना के बारे में तो इस विपश्यना पत्रिका के माध्यम से पिछले अनेक अंको में विस्तार से समझाया और बताया जा चुका है। हम सभी विपश्यना के रहस्य, महत्त्व और सार को जान चुके हैं और अब तो विपश्यना जीवन की शैली बन चुकी है। अत: मैं अपनी बात पर आना चाहता हूं और अंगुलिमाल की कहानी के अन्त तक आपको ले जाना चाहूंगा।

शिविर नम्बर ११२ मेरा प्रथम शिविर था जो दिनांक २१-५-७५ से ३१-५-७५ तक समुद्र के किनारे रमणीय वातावरण में नारगोल (गुजरात) में लगा था। मैं राजस्थान सरकार की ओर से विपश्यना साधना शिविर में भाग लेने गया था। नारगोल के लिए प्रस्थान करने से पूर्व मन में उत्कंठा जागी कि इस साधना के बारे में कुछ तो पता चले और इसलिए मैंने एक ऐसे महानुभाव से संपर्क किया जो इस साधना का अभ्यास करते आये थे। उन्होंने इस साधना की ऊपरी रूप-रेखा से मुझे परिचित कराया और बताया कि विशेष तो शिविर में भाग लेने पर गुरूजी ही बताएंगे। उन महानुभाव से वार्ता के दौरान मुझे जो प्रेरणा मिली उसका तत्काल प्रभाव तो यह पड़ा कि मैं अपने सभी पुराने लेपों को जयपुर रेल्वे स्टेशन के प्लेटफार्म पर ही उतार कर ट्रेन में बैठा और जब शिविर में साधना का अभ्यास करने लगा तब जयपुर में उस महानुभाव के द्वारा मिली प्रेरणा क्षण-क्षण पुष्ट होने लगी, गुरुदेव के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी और मन 'विपश्यना साधना' में रमने लगा।

हमारे आज के अंगुलिमाल भी अपने शरीर और चित्त-शोधन के लिए तैयार हुए। राजस्थान विश्व विद्यालय के समाज-शास्त्र विषय के आचार्यों द्वारा शिविर में बैठने से पूर्व तथा पश्चात प्रत्येक साधक बंदी का साक्षात्कार करवाया गया– शोध कार्य के लिए। चिकित्सा अधिकारियों द्वारा भी सभी साधक बंदियों के स्वास्थ की परीक्षा करायी गयी। शोध कार्य के लिए ही मुंबई से कुमारी कुसुम शाह भी आईं जो कारागृह के अंदर ही दस दिनों तक अंगुलिमालों के बीच रहीं। कारागृह के उस भाग में, जिसे शिविर लगाने के लिए चुना गया था, कुछ दिनों पहले से वहां पावन तरंगें तैरने लगीं। बाहर से आने वाले सज्जन शिविर-स्थल को देखकर आश्चर्य करते थे और उन्हें संदेह होता था कि क्या वे सचमुच कारागृह में आये हैं। एक महान संत के आगमन के लिए जैसा वातावरण बनता है, ठीक वैसा ही वातावरण उपस्थित था जब श्री गोयन्काजी शिविर-संचालन के लिए पधारने वाले थे।

दि. २७-९-७५ से केंद्रीय कारागृह, जयपुर में दस दिन का ऐतिहासिक शिविर लगा। 'विपश्यना साधना' का यह ११७ वां शिविर था जो पूज्य गुरुदेव श्री गोयन्काजी के द्वारा संचालित किया गया था। इसमें १०४ पुरुष बंदी व १० महिला बंदियों ने भाग लिया था। मैं लगातार इस शिविर के संपर्क में रहा। इस शिविर की तैयारी को जहां मैंने समीप से देखा था वहां शिविर समाप्ति के बाद भी कारागृह के वातावरण और साधक बंदियों की गतिविधियों को मैं देखता आया हूं। दिनांक ७-१०-७५ को शिविर समाप्त हुआ। साधकों के जो मुर्झाए हुए चेहरे मैंने दिनांक २७-९-७५ से पहले देखे थे, वे अब गोल व प्रफुल्लित दिखाई दे रहे थे। इन १० दिनों की विपश्यना ने उनके अंदर के अंगुलिमाल को मार कर उन्हें नया जन्म दिया था। सभी कृतज्ञ और आभारी थे, विपश्यना साधना की विधि ग्रहण करके, जिसके द्वारा उन्हें बंधन में सुख-शांति भोगने की कला हाथ लगी। किन्तु पूज्य गुरुदेव के प्रति आभार और कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन्हें विपश्यना साधना का नियमित रूप से प्रातः एवं सायं एक घंटा अभ्यास करना ही होगा। अभ्यास से ही शुद्ध धर्म का दीप मानस में प्रज्वलित होकर दीप्त होगा।

उपरोक्त शिविर के तुरंत बाद दिनांक ७-१०-७५ से शिविर नं. ११८ राजस्थान विश्व विद्यालय में लगा। जयपुर के कस्तूरबा छात्रावास के प्रांगण में लगे शिविर में मैंने भाग लिया और नारगोल शिविर के बाद से मेरी साधना के अभ्यास को बल मिला। इस शिविर में भी बंदी साधक शाम को गुरुजी के प्रवचन सुनने के लिए रोज चार किलोमीटर दूर केंद्रीय कारागृह से आया करते थे। प्रवचन में समाज के और भी अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति आते थे जो इन बंदी साधकों के सद्-व्यवहार से बड़े ही प्रभावित थे।

शिविर नं. ११८ की समाप्ति के साथ मैंने क्या पाया और क्या जाना है, लेखनी के द्वारा कैसे बताऊं? बस अभी तो ऐसा लगता है जैसे पहले से ही एक दुनिया अंदर बसी है जिसे जानने के लिए पवित्रता की सीढ़ी लगाकर धीरे-धीरे मैं उतर रहा हूं! बहुत गहरी दुनिया है जिसमें साधना अभ्यास की निरंतरता ही गहराइयों में ले जायगी। मन बदला है, हल्कापन भी आया है, रोग भी जाता नजर आता है, संतुष्टि के भाव बनने लगे हैं और सबसे बड़ी बात तो यह बनी है कि मन की प्रसन्नता अपना क्षेत्र बहुत व्यापक बनाने में लगी है और भीतर की नजर पैनी होने लगी है। समता का जीवन जीने की आदत पड़ गई है किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि मेरे जीवन में तनाव, खिंचाव, चिंताएं शारीरिक दुःख तथा मन में विकार पैदा ही नहीं होते हैं। यह सब कुछ होता तो है, लेकिन विपश्यना साधना के अभ्यास से ये टिक नहीं पाते। मन समस्याओं से पलायन की बजाय उनका समाधान पाकर शुद्ध चित्तवृत्तियों का सृजन करता है।

उधर बंदी साधकों के जो उद्गार और अनुभव 'विपश्यना साधना' के संबंध में सामने आये हैं, वे सचमुच एक कीर्तिमान हैं। सब पर समान प्रभाव पड़ा है साधना का। मेरा विश्वास है ये बंदी साधक जब भी उन्मुक्त होंगे, ऊंची-ऊंची दीवारों के बाहर आयेंगे तो अंगुलिमाल की भांति ये भी अपना शेष जीवन विपश्यना को जीवन की शैली बनाकर सत्य, प्रेम और करुणा की त्रिवेणी बहाते हुए समाज-सफाई के कार्य में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त कर सकेंगे। बंदी साधकों की तथा अन्य बंदियों की मागें हैं, कि विपश्यना साधना के शिविर कारागृहों में वर्ष में एक-दो बार लगते ही रहने चाहिए ताकि अधिक से अधिक बंदी लाभान्वित हो सकें।

राजा प्रसेनजित की सेना अंगुलिमाल को चाहे काबू न कर पायी हो पर हमारे आज के अंगुलिमालों को सही दिशा दिखाने के लिए राजस्थान के आरक्षी विभाग के अनेक अधिकारी और थानेश्वरों (इंचार्ज पुलिस स्टेशन पूज्य गुरूजी के शब्दों में) को भी राजस्थान पुलिस अकादमी, जयपुर में दिनांक २७-१-७६ से ६-२-७६ तक एक शिविर लगाकर 'विपश्यना' साधना का अभ्यास कराया गया था जिसके परिणाम भी उत्साहवर्धक निकले हैं। मेरा विश्वास है इसी प्रकार भविष्य में सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर विपश्यना साधना के शिविर राजस्थान में समय-समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर तथा विभागों में लगते रहे तो राजस्थान में कारागृहों के बाहर भी अपराध और अपराधी की समस्या को हल करने में, उल्लेखनीय सफलता मिल सकेगी और प्रदेश का हर अंगुलिमाल सभ्य नागरिक बन कर विशुद्ध धर्म का जीवन बिताने लगेगा।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० पौष पूर्णिमा दि. ५-१-७७ अंक ७)

सूक्ष्म दर्शन

उदान [६]

श्रमण आनंद वर्षों भगवान बुद्ध के उपस्थाक [निजी सहायक] रहे। उनसे पूर्व समय-समय पर भगवान की परिचर्या करने के लिए कई एक अन्य लोग इस पद पर नियुक्त किए जाते रहे। उनमें से एक था भिक्षु मेघिय।

एक बार जब भगवान चालिका पर्वत पर विहार कर रहे थे तब भिक्षु मेघिय भगवान की अनुज्ञा लेकर जंतु ग्राम में भिक्षाटन के लिए गया। लौटते हुए वह किमकाला नदी के किनारे एक मनोरम आम्रवन में से गुजरा। उसने देखा चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तरु-तृण, कोमल किसलय, विपिन-वल्लरी पर प्रकृति की नयनाभिराम सुषमा छायी हुई है। सारे वन प्रदेश में पल्लव-परिमल की, प्रफुल्ल-कुसुमों की मीठी महक गमक रही है। रसीले गदराए फलों से लथपथ आम्र शाखाएं बिना चखे ही जीभ को मीठे स्वाद से और लार से भर देती हैं। भौरों के गुंजन और खगकुल के कलरव के साथ-साथ किमकाला नदिया का कर्णमधुर कल-कल निनाद सारे वातावरण को दिव्य संगीत से भर रहा है। शीतल मंद समीर शरीर का स्पर्श करती है तो उसे पुलक सिहरन से हर्ष-विभोर कर देती है। सर्वत्र निसर्ग का सौंदर्य-शृंगार बिखरा हुआ है। सभी कुछ अत्यंत रमणीय, अत्यंत मनोज्ञ, अत्यंत मनोहारी है।

मेघिय को लगा कि यह स्थान ध्यान-भावना [साधना] के लिए अत्यंत उपयुक्त है। भगवान से आज्ञा लेकर यहां अभ्यास करूं। भगवान के पास जाकर आज्ञा मांगी तो भगवान ने रोका। मेघिय को यह रोकना अच्छा न लगा।

ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखने वाले सभी स्थान ध्यान भावना के उपयुक्त ही हों, यह आवश्यक नहीं है। इस विषय के मर्मज्ञ अधिकारी व्यक्ति ही इसे जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त मेघिय जैसे नए साधक को प्रारंभिक अवस्था में उचित मार्गदर्शन के लिए किसी एक अनुभवी कल्याणमित्र के सान्निध्य की भी नितांत आवश्यकता थी। भगवान ने उसे ठीक ही रोका। परंतु भगवान की इच्छा न होने पर भी अति आतुर मेघिय उसी स्थान पर अकेले साधना करने चला गया।

वहां किसी वृक्ष के तले साधना करने बैठा तो उसे यह देखकर बेहद आश्चर्य हुआ कि साधारणतया भगवान के सान्निध्य में ध्यान करने पर उसका मन जितना शांत, स्थिर, सजग, सचेत और विमल-विशुद्ध रहता है वैसा यहां बिल्कुल नहीं हो रहा। अवश्य ही उस स्थान पर किन्हीं दूषित तरंगों का कुत्सित प्रभाव

होगा, जिसके कारण उसके मन में बार-बार कलुषित पाप तरंगों के संकल्प-विकल्प, विचार-वितर्क उठने लगे। कभी प्रबल काम-तृष्णाओं के ज्वार उठते तो कभी द्वेष-दौर्मनस्य और घृणा क्रोध का झंझावात चल पड़ता। उसका समस्त मन मानस मलीन तरंगों से उद्वेलित, आलोड़ित हो उठा। उसे समझ नहीं आ रहा था कि ऐसी अवस्था में क्या करे? कोई मार्गनिर्देशक भी तो पास नहीं था। व्याकुल होकर सायंकाल वहां से लौटा और भगवान के पास आकर उन्हें अपनी आप-बीती कह सुनायी।

भगवान ने उस समय उसे जो उपदेश दिया वह सभी नौसिखिए साधकों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अनुकरणीय है। भगवान ने बताया कि जो साधक अभी चित्त-विमुक्ति में परिपक्व नहीं हुआ है उसके लिए ये पांच साधन अत्यंत अपेक्षित हैं:–

१. उसे चाहिए कि किसी अनुभवी कल्याणमित्र का सान्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त करे।

२. उसे चाहिए कि अनिवार्यतः शील पालन करे। किंचित भी शील भंग होने में अपना घोर अनर्थ माने। शील साधना की आधारशिला है, नींव है, शील परिपक्व हुए बिना कोई साधना में परिपक्व हो नहीं सकता।

३. उसे चाहिए कि ऐसी धर्म चर्चा में ही रुचि रखे जो कि चित्त पर से मैल उतारने में, विषयों से विरक्ति-विकर्षण पैदा करने में, दुःखों का नितांत निरोध करने में, विकारों का पूर्ण उपशमन करने में सहायक हो। जैसे अल्पेच्छ कथा, संतुष्टि कथा, विवेक कथा, निःसंग कथा, पुरुषार्थ कथा, शील कथा, समाधि कथा, प्रज्ञा कथा, विमुक्ति कथा और ज्ञान-दर्शन-अनावरणीय कथा। ऐसी धर्म कथाएं जिनसे मार्गदर्शन, प्रेरणा और उत्साह मिले, जिनसे आशंकाएं-विशंकाएं दूर हों, मन स्थिर हो, श्रद्धाबहुल हो, अध्यवसायी हो और परिणामस्वरूप अपवित्रताओं, पीड़ाओं और विकलताओं से छुटकारा पाकर विरज-विमल हो।

४. उसे चाहिए कि वह दृढ़ पुरुषार्थ में लग जाय। अकुशल से मुक्त और कुशल में संपन्न होने के पुरुषार्थ में लग जाय। साधना के लिए जो विधि अपने कल्याणमित्र से मिली, उसके अभ्यास से स्थिरता लाए और जब तक चित्त विशुद्धि और विमुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक न पहुँच जाय तब तक स्वेच्छा से धारण किए हुए अभ्यास के इस कुशल जुए को अपने कंधों पर से उतारकर नहीं फेंके। दृढ़ पराक्रम में संलग्न रहे, स्थित रहे।

५. उसे चाहिए कि सुनी सुनाई श्रुत-प्रज्ञा अथवा तर्क-वितर्क द्वारा प्राप्त चिंतन-प्रज्ञा तक ही सीमित न रह जाय बल्कि अपने भीतर स्वानुभूतिजन्य

भावनामयी प्रज्ञा जगाए। ऐसी कुशाग्र, तीक्ष्ण, बींधनेवाली प्रज्ञा जो स्थूल शरीर स्कंध और भावावेशविहारी स्थूल चित्तस्कंध के टुकड़े-टुकड़े करके उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाइयां अनावरित कर दे। क्षण-क्षण उदय और अस्त, उत्पाद और व्यय होने वाली सूक्ष्म सच्चाइयों का दर्शन कराने वाली आर्य-प्रज्ञा ऐसा आलोक जगाए जिससे कि अज्ञान और अविद्या का सारा कुहरा दूर हो जाय और दुःख-क्षय रूपी निर्वाण का स्वतः साक्षात्कार हो जाय।

साधक अपने कल्याणमित्र के सहयोग सहकार द्वारा उपरोक्त प्रकार अभ्यास करता हुआ अपना कल्याण साधे। भगवान ने आगे कहा कि "जब-जब उसकी चित्तधारा पर राग जागे, तब-तब अशुभ भावना यानी शरीर की गंदगी की भावना करे। जब-जब द्वेष जागे, तब-तब मंगल मैत्री की, जब-जब विचार-वितर्क जागे तब-तब आनापान सति यानी आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता की, और जब-जब अस्मिताभाव जागे यानी अहंकार जागे, तब-तब अनित्य की भावना करे।"

यह "मैं" और "मेरे" का मिथ्या अहंभाव ही है जो कि राग और द्वेष पैदा करता है, जिनकी वजह से चित्तधारा पर नाना प्रकार के विचार-वितर्कों और विकृति-विकारों की रेल-पेल चलने लगती है। इसीलिए चित्त-विमुक्ति की साधना में अहंभाव को, आत्मभाव को नष्ट करने पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। इसकी जड़े उखड़े बिना अन्य विकारों की जड़े उखड़ नहीं पातीं। इसीलिए **उदयत्थगामिनीया पञ्ञाय समन्नागतो अरियाय निब्बेधिकाय** – "को इतना महत्त्व दिया गया है, ऐसी बींधने वाली प्रज्ञा को, जो उदय-व्यय वाले अनित्य स्वभाव का साक्षात्कार करवाती है। यह अनित्य-संज्ञा-प्रबोधनी प्रज्ञा ही है जो कि साधक के आत्मभाव पर कुठाराघात करती है। अनित्य संज्ञी साधक ही अनात्म यानी अहं-विहीनता की सच्चाइयों में संतिष्ठित, प्रतिष्ठित होता है और अनात्म-संज्ञी ही अस्मिताभाव की सारी अविद्या का समुद्घात करता है उसकी जड़ें उखाड़ता है और निर्वाण का साक्षात्कार करता है। यहीं, इसी जीवन में।

कितने आश्वासन भरे शब्दों में इस कल्याणी "अनित्य साधना" की मंगल घोषणा की है भगवान नेः –

"अनिच्चसञ्ञिनो हि, मेघिय, अनत्तसञ्ञा सण्ठाति, अनत्तसञ्ञी अस्मिमानसमुग्घातं पापुणाति दिट्ठेव धम्मे निब्बानं।"

हम अनित्य को अनित्य देखते ही तो नहीं। सारा ऐंद्रिय जगत अनित्य है पर हम इन पांच ऐंद्रिय द्वारों पर सदा विषयों का स्वागत करते रहते हैंः नित्य मानकर ही उनका उपभोग करते रहते हैं। कभी कोई मनोहारी रूप देखते हैं, कभी

मनोहारी गंध सूंघते हैं, कभी मनोहारी शब्द सुनते हैं, कभी मनोहारी रस चखते हैं, कभी मनोहारी स्पर्श करते हैं; और जब कभी आंख मूंदकर साधना में बैठते हैं तब उन-उन मनोहारी रूपों, गंधों, शब्दों, रसों और स्पर्शों की मीठी यादें मन में उभरती हैं। कभी किसी रूप, शब्द, रस गंध, स्पर्श की स्वयं अनुभूति न भी की हो, परंतु केवल वर्णन पढ़ा सुना हो तो उसकी कामना कल्पना ही चित्तधारा पर उभरने लगती है। चाहे इन मनोज्ञ विषयों की स्वानुभूतिजन्य यादें हों अथवा श्रुतिजन्य कल्पनाएं, पर इनका चिंतन-मनन विषयों के प्रत्यक्ष उपभोग जैसा ही प्रिय लगता है। कोई भी ऐन्द्रिय विषय इस क्षण उपस्थित नहीं है, केवल उसकी याद है अथवा कल्पना। पर फिर भी चित्तधारा पर उसके चिंतन की "खुद्दक-खुद्दक" याने क्षुद्र-क्षुद्र, नन्हीं-नन्हीं और "सुखुमा-सुखुमा" याने सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें उठने लगती हैं। चित्तधारा पर उत्पन्न हुई यह नन्हीं नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म विचार-वितर्क की तरंगें शरीर स्कंध पर नन्हीं-नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदनाओं की सिहरन पैदा करती हैं जो कि हमें अत्यंत प्रिय लगती हैं। सूक्ष्म स्तर पर होने वाले इस पुलक-रोमांच का हम आनंद लेने लगते हैं, इसी से उसके प्रति अधिकाधिक नंदी-राग जागता है।

राग-रंजित होकर हम उन सूक्ष्म-सुखद संवेदनाओं का अंधानुकरण करने लगते हैं। उस सुखद अनुभूति में जरा सी बाधा आए अथवा बाधा आने की जरा सी आशंका पैदा हो तो मन में बेचैनी जागने लगती है घबराहट होने लगती है। उस सुख के विरोधी लगने वाले सारे तत्त्व यानी सभी व्यक्ति, वस्तुएं, परिस्थितियां अत्यंत अप्रिय लगने लगती हैं। फलतः उनके प्रति द्वेष-द्रोह जागता है। इस राग-रंजन और द्वेष-दूषण से चित्त भ्रांत हो उठता है, परिणाम-स्वरूप इधर-उधर दौड़ता है, अशांत होता है। यह सब इसीलिए होता है कि जब-जब शरीर और चित्तधारा पर यह नन्हीं-नन्हीं, सूक्ष्म-सूक्ष्म तरगें उठती है, तब-तब उनके प्रति हम "अविद्वा" रहते हैं यानी अवेदनशील रहते हैं, अनजान रहते है। कैसे मन राग-रंजित होकर उन तरंगों का अनुगमन करने लगा है? कैसे "उप्पिलावा" यानी उत्फुल्ल-प्रफुल्ल होने लगा है? इसका हमें जरा भी बोध नहीं रहता। इसी के फल स्वरूप बात बढ़ते-बढ़ते इस व्याकुलता की हद तक आ पहुँचती है।

इसे रोकने के लिए ही विपश्यना साधना है। इसीलिए बींधने वाली प्रज्ञा है जो हमें सूक्ष्म अवस्था में उठने वाली इन नन्हीं-नन्हीं तरंगों को अपने सही स्वभाव में देखने योग्य बनाती है और इन्हें अनासक्तभाव से देखना सिखाती है। क्या है इनका सही स्वभाव? यही "उदयत्य" यानी उदय-अस्त, उत्पाद-व्यय, उत्पन्न-लय। हर तरंग अस्त होने के लिए ही उदय होती है। जब हम इन नन्हीं-नन्हीं तरंगों को

उनकी इस अनित्य-धर्मा सच्चाई के बोध में देखने लगते हैं तब मिथ्या आनंद से बिभोर होकर यानी अंधे होकर इनका अनुगमन करने की आदत से छुटकारा पाते हैं। जब इनका अनुगमन नहीं करते तब इन रस तरंगों को बल नहीं मिलता। ये अपने आप क्षीण होने लगती हैं। यही सही माने में मन का संवर है, जिसमें कि दमन नहीं है, केवल देखना है, सच्चाई के प्रति जागरूक रहना हैं, अनित्य स्वभाव के प्रति सचेत, अप्रमत्त रहना है। इस अभ्यास के द्वारा अंधेपन में उत्पन्न हुए सारे विकार सहज ही छूट जाते हैं। चित्तधारा विरज-विमल हो जाती है। यही विपश्यना साधना का अभ्यास है। इसी ओर संकेत करते हुए भगवान ने उस समय उदान के यह वचन कहे: –

"खुद्दा वितक्का, सुखुमा वितक्का,
अनुगता मनसो उप्पिलावा।
एते अविद्धा मनसो वितक्के,
हुरा हुरं धावति भन्तचित्तो।
एते च विद्धा मनसो वितक्के,
आतापियो संवरती सतीमा।
अनुगते मनसो उप्पिलावे,
असेसमेते पजहासि बुद्धो॥"

"ये नन्हें-नन्हें विचार-वितर्क पैदा होते हैं तो मन इनके पीछे लग जाता है और आनंद से फूल उठता है। इन सूक्ष्म-सूक्ष्म नन्हें-नन्हें विचार-वितर्को और इनसे उत्पन्न सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति जब कोई 'अविद्धा' यानी अवेदनशील यानी अनजान रहता है तो चित्त भ्रांत हो इधर-उधर प्रधावन करता है, दौड़ लगाता है।

परंतु जब कोई साधक साधनारत हो जागरूक रह कर इनके प्रति 'विद्धा' यानी संवेदनशील हो जाता है तो मन का संवर कर लेता है। वह शुद्ध-बुद्ध साधक आनंद के अनुगमन करने वाले मन को पूर्णतया त्याग देता है।"

आओ, भगवान द्वारा संक्षेप में कहे हुए इस उपदेश को समझें और इसका पालन करें।

देखें, कैसे स्वभाव शिकंजे में जकड़ गए हैं हम। जब देखो तब मन में लड्डू फोड़ने लगते हैं, ख्याली पुलाव पकाने लगते हैं, हवाई महल बनाने लगते हैं और मीठे सपने सँजोने लगते हैं। ऐसा करते हुए इन नन्हीं-नन्हीं विचार तरंगों में और इनसे उत्पन्न होने वाली सुखद संवेदनाओं में घंटों लोट-पलोट लगाते रहते हैं और अपनी सुध-बुध खोए रहते हैं। जब होश आता है और यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रखते हैं तब सच्चाई कितनी अप्रिय लगती है। मीठे सपने टूटते हैं तब बेहद

बेचैनियां लाते हैं। चित्त उद्‌भ्रांत हो जाता है। किसी काम में चैन से टिक नहीं पाता। सदा अशांत, अस्थिर, चंचल, उद्विग्न, उद्वेलित, उत्तेजित बना रहता है। दुःख ही दुःख का पिटारा। इसके पहले कि हम ऐसे भावावेश के शिकार हो जायँ, हमें चाहिए कि जब कभी हमारा मन मोह-मुग्ध हो इन सूक्ष्म विचार तरंगों का अनुगमन करने लगे और इन सुखद संवेदनाओं से हर्षित पुलकित होने लगे तभी होश में आ जायँ, स्मृतिवान हो जायँ। चित्तानुपश्यना, कायानुपश्यना और दोनों का सम्मिलित बोध कराने वाली वेदनानुपश्यना और इन वेदनाओं-संवेदनाओं के तरंगमय अनित्य स्वभाव को स्पष्ट करने वाली धम्मानुपश्यना करने लगें। बींधने वाली प्रज्ञा जगाएं। उदय-व्यय के साक्षात्कार द्वारा अपने मन को वीतरागता की ओर, अनासक्ति की ओर उन्मुख करें और अपना कल्याण साधें।

अनित्य के प्रति सजग सुबोध बने रहने में ही सबका मंगल समाया हुआ है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० माघ पूर्णिमा दि. ४-२-१९७७ अंक ८)

जेलें, अपराधी और विपश्यना

–हरिश्चंद्र विद्यालंकार

समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों तथा अपराधविज्ञानियों की चिरकाल से यह इच्छा रही है कि जेलें मात्र दंडगृह न रह कर सुधारगृह बन जायें। इस दिशा में तरह-तरह के मनोवैज्ञानिक प्रयोग किये जाते रहे हैं। किंतु ये प्रायः उतने सफल नहीं रहे जितना उनसे आशा की जाती थी। पाश्चात्य जगत की जेलों में कैदियों की अपराधोन्मुख मनोवृत्ति को सुधारने के लिए योगासनों और प्राणायाम का अभ्यास १०-१५ वर्ष से उल्लेखनीय परिणाम दिखा रहा है। ..... परंतु.....

परंतु वर्ष १९७५ के सितम्बर-अक्टूबर में जयपुर की सेन्ट्रल जेल में, राजस्थान सरकार के तत्त्वावधान में, ११४ अपराधियों पर जो ध्यानयोग का - ('विपश्यना' नामक ध्यानप्रयोग का) - परीक्षण किया गया, उससे अपराधियों के सुधार की विधियों के इतिहास में नये अभ्यास का सफल सूत्रपात हुआ है।

विश्व में यह पहला प्रयोग था जिनमें कैदियों के सुधार के उद्देश्य से 'ध्यानप्रयोग' आजमाया गया और वह भी सरकारी तौर पर। यहां.... इस ऐतिहासिक परीक्षण की कहानी ..... तथा कैदियों के मन और शरीर पर पड़ने वाले 'विपश्यना-ध्यान के प्रभावों' की वैज्ञानिक रिपोर्ट भी प्रस्तुत है।

स्थान– जयपुर की सेंट्रल जेल, **समय**– सितम्बर १९७५,
पात्र– १. राजस्थान के गृह-आयुक्त एवं गृह-सचिव श्री रामसिंह चौहान
२. जेल सुपरिंटेंडेंट।

विषय– ध्यानयोग 'विपश्यना' के १० दिनों में–

१. साधक कैदियों के लिए धुले हुए साफ कपड़े,

२. सात्त्विक शुद्ध आहार,

३. उन्हें खुले बैरक में रखना जिस पर न ताला हो, न पहरेदारी हो,

४. दैनिक मेहनत के काम से साधना के लिए छुट्टी..... और.....

५. दस महिला-कैदी का भी इस शिविर में भाग लेना।

जेल सुपरिंटेंडेंट को इन सभी बातों पर तरह-तरह की आशंकाएं थीं। नंबर १ से ४ तक सुविधाएं देने के बारे में उनका कहना था कि जेल में जो अन्य लगभग एक हजार कैदी हैं उनके मन में इन सुविधाओं से ईर्ष्या जागेगी और परिणामस्वरूप जेल में हंगामा खड़ा हो जायगा। आगे, जेल के नियमों के अनुसार

महिला-कैदियों की सजा वाले पुरुष कैदियों के मन में महिला कैदियों को देखकर यौन-वासना जाग्रत होने के दुष्कर्मों से बचा जा सके। इसलिए सुपरिटेंडेंट को शिविर में महिला कैदियों को शामिल करने में झिझक थी।

दोनों में काफी वार्तालाप के बाद यह तय हुआ कि इस योगसाधना की शर्त्तों के अनुसार एक शिविर लगाकर प्रयोग तो कर ही लेना चाहिए।

श्री रामसिंहजी ने प्रयोग को जरा विस्तृत रूप देने के लिए यह इच्छा प्रकट की कि जेल के शेष ९००-१००० कैदी भी गुरुजी - (श्री सत्यनारायणजी गोयन्का) के सायंकालीन प्रवचनों में हाजिर हों। इस पर भी जेल सुपरिटेंडेंट ने आशंका प्रकट की कि प्रवचन-हाल में इन १००० कैदियों को बिना पहरे के बैठने की अनुमति देना खतरनाक हो सकता है– विशेषकर ऐसी हालत में जब कि प्रवचन सुनने के लिए अनेक सरकारी उच्चाधिकारी और उनके परिवार के लोग भी उपस्थित होंगे। फिर, जेल के नियमों के अनुसार कोई भी उच्चाधिकारी जब जेल में निरीक्षण के लिए आये, उसकी रक्षा के लिए, उसके साथ सशस्त्र पहरेदारों की निगरानी आवश्यक है। परंतु शिविर के नियम इसके विपरीत थे। शिविर में कोई सशस्त्र पहरेदार प्रवेश नहीं कर सकता था। इस पर, इन एक हजार कैदी श्रोताओं में लगभग १०० महिला कैदियों के शामिल होने से सुपरिटेंडेंट साहब को अतिरिक्त आशंका मालूम हो रही थी।

गृह-सचिव की उत्सुकता का रहस्य

परंतु गृह-आयुक्त एवं गृह-सचिव श्री रामसिंह ने इन आशंकाओं के बावजूद एक योगसाधना-शिविर का प्रयोग करके देखना ही चाहा। श्री रामसिंह इस प्रयोग के लिए इतने उत्सुक इसलिए थे कि उन्होने स्वयं इस प्रकार के एक शिविर में कुछ महीने पूर्व भाग लिया था और उसके लाभों से वे बहुत प्रभावित और आश्वस्त थे। उन्हें भरोसा था कि शिविर के दौरान जेल में कोई उपद्रव नहीं होगा। उनकी यह आशा सत्य सिद्ध हुई।

शिविर समाप्त होने पर जेल-सुपरिटेंडेंट ने बताया कि जिस जेल में कैदी रोजाना १५-२० उपद्रव करते ही रहते थे, वहां इस शिविर के दौरान न केवल १००० कैदियों की भीड़ में बल्कि अन्य दैनिक कार्यक्रमों के दौरान कोई उपद्रव नहीं हुआ।

इस शिविर के तत्काल बाद गोयन्काजी का अगला शिविर 'राजस्थान विश्व विद्यालय' में चला। इस दूसरे शिविर के दस दिन के दौरान भी 'सेंट्रल जेल' में कोई उपद्रव नहीं हुआ। ऐसा फॉलोअप से देखने में आया।

आखिर रहस्य क्या है?

प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'विपश्यना' ध्यानयोग के दिनों में जेल में जो ऐसा प्रशांत वातावरण पैदा हुआ उसका रहस्य क्या है? गैर विद्यार्थी ९००-१००० कैदियों ने शिविरार्थियों में हुए परिवर्तन देखे, वे उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके। आखिर विपश्यना में ऐसा क्या जादू है? और यह 'विपश्यना' साधना है क्या?

विपश्यना साधना

१. इस सांप्रदायिकता-विहीन और पूर्णतः वैज्ञानिक साधना में, साधक अपने चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करते हुए अपने सहज स्वाभाविक श्वासोच्छवास पर जागरूक रहता है।

२. श्वास का न केवल हमारे शरीर से, बल्कि मन और मन के विकारों से भी गहरा संबंध है..... श्वास, शरीर की एक प्रक्रिया होने के नाते शरीर से तो संबंधित है ही, परंतु जब-जब हमारे मन में क्रोध, भय, वासना आदि विकार जागते हैं, तब-तब सांस की गति बदल जाती है। यह आम अनुभव है।

३. श्वास के आवागमन के प्रति सजग रहने का अभ्यास करता हुआ साधक अपने शरीर में सूक्ष्म स्तर पर होने वाली नाना जैविक-प्रक्रियाओं ('मेटाबोलिक' अर्थात उपापचयन संबंधी, विद्युतचुंबकीय एवं जीवरासायनिक प्रक्रियाओं) के घटन को अनुभव करने लगता है। ये प्रक्रियाएं भी मात्र शारीरिक नहीं हैं, बल्कि इनका भी मन के साथ गहरा संबंध है। जब-जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब-तब ये प्रक्रियाएं विशेषरूप में प्रवाहित होने लगती हैं जिससे हमें तरह-तरह की अनुभूतियां– (गर्मी-सर्दी, सिहरन-पुलकन, आकुंचन-विस्तारण आदि अनुभूतियां) पैदा होने लगती हैं।

४. सामान्यतया न हम अपने इन विकारों के प्रति सजग रहते हैं और न ही इनसे उत्पन्न विभिन्न संवेदनाओं के कारण मन में होने वाली पसंदगी-नापसंदगी – (अर्थात राग-द्वेष)--- की प्रतिक्रियाओं के प्रति। विपश्यना-साधना इन सब के प्रति हमें सजग रह सकने की क्षमता प्रदान करती है।

५. क्योंकि हम अपने भीतर चलने वाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के प्रति जागरूक नहीं हैं, इसलिए जब भी कभी कोई प्रिय या अप्रिय घटना घटती है, तब इन विकारों के भावावेश से हम अभिभूत हो जाते हैं। क्रोध आये तो हमें पता ही

नहीं लगता कि कब वह आया और हमारे सिर पर सवार हो गया। जिसके परिणामस्वरूप हम अकथनीय कह देते हैं और अकरणीय कर देते हैं।

६. विपश्यना का अभ्यास विकारों के उठते ही हमें उनके प्रति जागरूक होना सिखाता है जिससे वे हम पर हावी न हो जायँ।

७. न केवल विकारों के अंधे भावावेश के समय हम अनुचित प्रतिक्रिया कर बैठते हैं, बल्कि उसके बाद भी लंबे अर्से तक उनका प्रभाव हमारे मन पर बना रहता है। किसी अप्रिय बात को याद कर-कर के हमारा मन जितनी देर सुलगता रहता है उतनी देर बेचैन और अशांत ही रहता है।

विकारों का नाश

८. विपश्यना द्वारा अपने शरीर और मन के विकारों को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास हमें इन विकारों से अभिभूत होने से बचाता है।

९. हमारे अंतर्मन में जो विकार-ग्रंथियां संगृहीत हुई रहती हैं, उन्हें यह साधना-विधि उभार कर चेतन मन पर लाती है और उनका निराकरण कर देती है।

- विकारों का दमन नहीं, बल्कि शमन होता है।
- नये विकारों का संवर ही नहीं होता, बल्कि पुरानों की निर्जरा भी होती है।
- विकारों की शक्ति क्षीण होती जाती है और मन निर्मल होता जाता है।

१०. मन जब निर्मल होता है, तब स्वभाव से उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता और समता (इक्वैनिमिटी) के सद्गुण विकसित होने लगते हैं। इससे जीवन-व्यवहार सुधरता है। पारस्परिक संबंध ठीक होते हैं। मन का संतुलन बना रहता है। इसी कारण लोगों के स्वभाव में स्पष्ट परिवर्तन दिखायी देते हैं।

११. हर अपराध के पीछे किसी न किसी मानसिक विकार का आवेश रहता है। जिस विद्या द्वारा हम इस आवेश से मुक्त हो सकते हैं, वह हमें अपराधों से मुक्त रखेगी ही।

विज्ञान क्या कहता है?

जयपुर सेन्ट्रल जेल में २७-९-७५ से ७-१०-७५ तक आयोजित विपश्यना-शिविर का वैज्ञानिक अध्ययन तीन संस्थाओं द्वारा किया गया.....

राजस्थान-सरकार द्वारा गठित 'प्रबंधक समिति' द्वारा..... जिसके सचिव श्री गणेशनारायण व्यास थे, राजस्थान विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र-विभाग के

अध्यक्ष डॉ. टी. के. एन. उन्नीथान और उनके साथियों द्वारा तथा बंबई विश्वविद्यालय से संबंधित 'कॉलेज आफ सोशल वर्क' की एक प्राध्यापिका सुश्री कुसुम शाह द्वारा। इन तीनों संस्थाओं ने कैदियों पर विपश्यना के प्रभावों के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन किया। नीचे इनकी रिपोर्टों का संग्रह संक्षेप में दिया जा रहा है: -

- 'धूम्रपान' करने वाले बहुत से बंदियों ने धूम्रपान छोड़ दिया। जिन बंदियों को सिर-दर्द, पेटदर्द, कब्ज आदि साधारण बीमारियां थीं उनमें से बहुतों ने बताया कि वे बहुत कुछ या पूर्णरूपेण स्वस्थ हैं।

- बंदियों के पारस्परिक मनोमालिन्य में कमी देखी गयी। उनके मन में पारस्परिक प्रेमभाव की वृद्धि हुई।

- साधना-शिविर के बाद बंदियों की कार्यक्षमता में वृद्धि हुई।

- उनके द्वारा किये जाने वाले कार्य एवं जेल-उद्योग उत्पादन में भी वृद्धि हुई।

- बहुत से बंदियों ने यह प्रकट किया कि वे भविष्य में अपना जीवन शांति एवं शुद्धता से व्यतीत करेंगे।

- जिन बंदियो ने केवल प्रवचन सुने थे उन्होंने यह बताया कि प्रवचनों का उन पर प्रभाव पड़ा है और वे चाहते हैं कि साधना में शामिल होने का मौका उन्हें भी दिया जाय।

- शिविर में भाग लेने बहुत से कैदियों ने यह इच्छा प्रकट की कि ऐसे शिविर जेलों में बार-बार लगाये जायं।

- कइयों ने कहा कि साल में कम से कम तीन बार।

- और उन्होंने यह विचार भी प्रकट किया की सभी कैदियों को इन शिविरों में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए।

एक रोमांचक उदाहरण इस विषय को प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट कर देगा–

फांसी का सजायाफ्ता गुरजंटसिंहः–

'सेन्ट्रल जेल' में तीन ऐसे फांसी-दण्ड-प्राप्त कैदी थे जो एकांत कोठरी में कैद रहकर फांसी की तिथि का इंतजार कर रहे थे। इनमें एक था सरदार गुरजंटसिंह जिसने लाउडस्पीकर द्वारा अपनी तनहा कोठरी में ही सायंकालीन प्रवचन सुने थे। उसने शिविर समापन के दिन शिविर-संचालन 'महात्मा' के दर्शन करने और उनसे धर्मलाभ प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की।

जेलों के इतिहास में यह पहला मौका था कि फांसी के किसी प्रत्याशी को ध्यान की धर्म-दीक्षा दी गई और उसी कोठरी में १० दिन अभ्यास करने के बाद उसे अन्य साधक कैदियों के साथ 'सामूहिक-प्रवचन' और साधना में शामिल किया गया। १० दिनों के भीतर ही गुरजंटसिंह के मन की व्याकुलता जिस कदर दूर हुई, उसे देखकर सभी साधक गद्गद हो गये। शिविर में अन्य कैदी भी तो खून और डकैती के ही अपराधी थे। उन पर भी विपश्यना का गहरा प्रभाव हुआ ही, परंतु गुरजंटसिंह की बात अनूठी थी, जिसने कि अपने जीवन में अनेक खून किए थे।

राजस्थान सरकार ने इस शिविर के लाभों तथा अधिकृत रिपोर्टों पर सावधानी से विचार किया है। उसने कैदियों में हुए अभूतपूर्व सुधारों को देखकर 'विपश्यना साधना' को अपराधियों के सुधार के माध्यम के रूप में अधिकृत तौर पर स्वीकार कर लिया है। विश्व में यह पहला प्रयोग था जिसमें कैदियों के सुधार के लिए (सरकारी तौर पर) ध्यानयोग काम में लाया गया।

(नव भारत टाइम्य, बम्बई के रविवारीय संस्करण
२२ अगस्त, १९७६ से साभार उद्धृत)

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० फाल्गुन पूर्णिमा दि. ५-३-७७ अंक ९)

विपश्यना की अतीत यात्रा

- मुनि नथमल

'अणुव्रत' व न्यास द्वारा संचालित 'अध्यात्म-साधना केन्द्र' में विपश्यना शिविर का आयोजन। श्री सत्यनारायणजी गोयन्का की उपस्थिति। उसमें कुछ गृहस्थ साधक थे। अधिकांश साधु-साध्वियों का प्रवेश था। मैं भी उसमें सम्मिलित हुआ। साधना पहले से चल रही थी। ध्यान का क्रम भी चालू था। पर जिज्ञासा थी विपश्यना पद्धति के विषय में।

जैन सूत्रों में पहला सूत्र है 'आयारो' (आचारांग)। उसे पढ़ने वाला 'लोकविपस्सी' शब्द से अपरिचित नहीं हो सकता। 'लोक' का अर्थ है - शरीर और 'विपस्सी' का अर्थ है– गहरे में उतर कर उसे देखने वाला। ध्यान का अभ्यासी 'शरीर-विपश्यी' होता है! मैं भी इस अर्थ से अपरिचित नहीं था।

आचारांग तथा अन्य जैन साहित्य में विपश्यना के तत्त्व भरे पड़े हैं, पर उसकी व्याख्या विस्मृत हो चुकी, यह कहने में कोई संकोच का अनुभव नहीं होता। कितनी शताब्दियों से जैन साधक विपश्यना की पद्धति से अपरिचित हैं, यह अनुसंधेय है। किन्तु यह असंदिग्ध है कि विपश्यना ध्यान की परंपरा उनमें प्रचलित नहीं है। मैं शिविर में गया। केवल अभ्यास के लिए ही मैं नहीं गया, बल्कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि भी मेरे सामने थी। जैन परंपरा में लुप्त पद्धति को पकड़ने का ध्येय भी मेरे सामने था। एक ही श्रमण-परंपरा की दो धाराओं - जैन और बौद्ध - में ध्यान की पद्धति समान न हो, उसमें आश्चर्य हो सकता है परंतु यदि वह समान हो तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। बौद्ध परंपरा में विपश्यना ध्यान की पद्धति प्रचलित है। जैन परंपरा में वह पद्धति प्रचलित नहीं है किन्तु उसका आधार और उसके मौलिक तथ्य विद्यमान हैं। उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय यह पद्धति जैन परंपरा में प्रचलित थी। भगवान महावीर इस पद्धति से ध्यान करते थे, यह बहुत प्रामाणिक तथ्य है।

गोयन्काजी ने शिविरार्थियों को आनापानसति का अभ्यास शुरू कराया। मुझे जैन परंपरा में प्रचलित नासाग्रदृष्टि के ध्यान की स्मृति हो आयी। गोयन्काजी बता रहे थे कि मन को ऊपर के होंठ पर केंद्रित करो। हम लोग नासाग्र पर मन को केंद्रित करने में अभ्यस्त थे। वे बर्मी साधना से परिचित हैं, इसलिए ऊपर के होठ पर मन को केंद्रित करने का निर्देश उचित है। चिपटी नाक वालों के लिए होठ के ऊपरी भाग पर मन को केंद्रित करना अधिक उपयुक्त है। भारतीय मनुष्यों की नाक लम्बी होती है इसलिए उनका नासाग्र होठ से अधिक संवेदनशील होता है। गोयन्काजी के निर्देशानुसार ऊपर के होठ पर संवेदनाओं को पकड़ते-पकड़ते मैं

अनायास ही नासाग्र पर पहुँच जाता और वहाँ संवेदनाओं को पकड़ता तथा श्वास के स्पर्श का अनुभव करता।

मैंने अनुभव किया कि कायोत्सर्ग या शारीरिक शिथिलीकरण के साथ आनापानसति का योग बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनकाल में कायोत्सर्ग श्वास-प्रश्वास के साथ किया जाता था। वर्तमान में वह पद्धति छूट गई। प्राचीन ग्रंथों में श्वास-प्रश्वास के साथ कायोत्सर्ग करने का विधान देखा और आनापान सति के प्रयोग से उस विधान को समर्थन मिल गया। बौद्ध परंपरा में जो आनापानसति की साधना है वही जैन परंपरा में कायोत्सर्ग की साधना है।

तीसरे दिन विपश्यना का अभ्यास प्रारंभ हुआ। गोयन्काजी ने साधकों को निर्देश दिया– वे स्थिर आसन में बैठ, आंखे मूंद, शरीर के भीतर देखें, भीतर होने वाले संवेदनाओं का अनुभव करें, सुखद या दःखुद जो भी संवेदना हो, उन्हें तटस्थभाव से देखें, अप्रमत्त रहें और वर्तमान की सच्चाई का अनुभव करें– इस निर्देश के साथ अभ्यास शुरू हो गया। मन को अंतर्मुखी करने की कुंजी हाथ लग गई। वैसे यह बात अज्ञात नहीं थी। याज्ञवल्क्य, गीता और आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' को पढ़ने वाला 'उत्तराधार' प्राणायाम से अपरिचित नहीं है। उस प्राणायाम में सिर से पैर तक और पैर से सिर तक, प्रत्येक अवयव का स्पर्श करते हुए प्राणधारा को प्रवाहित किया जाता है। किन्तु विपश्यना पद्धति की प्रामाणिक जानकारी एक सुपरिपक्व अभ्यासी साधक के द्वारा मुझे पहली बार मिली। एकाग्रता का अभ्यास मुझे पहले से था। इसलिए संवेदनाओं को पकड़ने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। प्रथम अभ्यास में ही कुछ स्पंदन, कुछ संवेदनाएं और यत्र-तत्र शारीरिक अवरोध अनुभव में आए। मैंने सोचा, मन की सूक्ष्मता होने पर और अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं को पकड़ा जा सकता है। अंतर्मुखी होने, घटना के प्रति तटस्थ रहने का एक निश्चित दृष्टिकोण निर्मित हो गया। कोई बहुत बड़ा शारीरिक या मानसिक लाभ हुआ हो, यह मैं नहीं कर सकता परंतु यह कह सकता हूँ कि मुझे धारणात्मक लाभ अवश्य हुआ। मेरी धारणा निश्चित बन गई कि यह पद्धति वीतरागता के अभ्यास की पद्धति है। इसमें चमत्कार, प्रलोभन या मिथ्या कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं है। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण से निष्पन्न यथार्थवादी साधना है।

मैं अभ्यासकाल में अभ्यास करता गया। उसके बाद अवकाश के क्षणों में विपश्यना की आचारांग के सूत्रों से तुलना करता गया। मुझे लगा आचारांग सूत्र में विपश्यना की पूर्ण पद्धति प्रतिपादित है, किन्तु परंपरा की विस्मृति होने के कारण उसकी स्पष्ट पकड़ नहीं है।

विपश्यना का मूल तत्त्व है - अप्रमाद और शरीर-दर्शन, यथार्थ को जानना

और घटना के प्रति तटस्थ रहना। आचारांग का एक सूत्र है - पुरुष अप्रमाद की साधना में उत्थित होकर प्रमाद न करे (५/२३)। अप्रमाद की साधनाका सूत्र है– शरीर की विपश्यना।' इस औदारिक (स्थूल) शरीर का यह वर्तमान क्षण है। इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह सदा अप्रमत्त होता है (५ २१)

सामान्यतः शरीर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अंदर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन है– स्थूल शरीर। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म - ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनाओं को देखने का अभ्यास करने वाला क्रम तैजस और कर्म शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल दर्शन से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका मन सूक्ष्मतरता की ओर बढ़ता जाता है।

साधक चक्षु को संयत कर लोक (शरीर) को देखता है। वह लोक के अधोभाग को देखता है, ऊर्ध्व को देखता है और तिरछे भाग को देखता है (२/१२५)। जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श को भलीभांति जान लेता है, यानी उनकी निस्सारता का अनुभव कर लेता है तब उनमें राग-द्वेष नहीं करता - तटस्थ रहता है, वह आत्मवान, ज्ञानवान, वेदवान, धर्मवान और ब्रह्मवान होता है (३/४)।

विपश्यना की बौद्ध परंपरा में धर्मवान शब्द ही उपयुक्त है। जैनों की विपश्यना पद्धति में आत्मवान शब्द भी संगत है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक जानता है वह मुनि (ज्ञानी) कहलाता है। वह धर्मविद और ऋजु होता है (३/५)।

जैसे अग्नि जीर्ण को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, कृश और जीर्ण कर देता है (४/३३)। आत्मा की संप्रेक्षा करने वाला अनासक्त हो जाता है (४/३२)

आचारांग सूत्र में विपश्यी और संप्रेक्षा - ये दोनों शब्द मिलते हैं। विपश्यना ध्यान की साधना के बाद इन दोनों शब्दों की गहराई में जाने और उनका हार्द समझने का अवसर मिला। एक ही श्रमण परंपरा की दो धाराओं में विपश्यना या प्रेक्षा का प्रचलन होना आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात यही है कि बौद्ध धारा ने उसे अब तक अविच्छिन्न रख लिया और जैन धारा उसे अविच्छिन्न नहीं रख सकी। उस विस्मृत तत्त्व को पुनः स्मृतिपटल पर उतरने में विपश्यना शिविर की साधना निमित्त बनी। इसे मैं सबसे बड़ा लाभ मानता हूँ।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० चैत्र पूर्णिमा दि. ४-४-७७ अंक १०)

विपश्यनाः दुःख-मुक्ति का मार्ग

—कन्हैयालाल लोढ़ा, एम.ए.

कर्म-सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में:

विपश्यना स्वरूपः 'विपश्यना' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'पश्य' धातु से बना हुआ है। पश्य का अर्थ है दर्शन। वर्तमान में दर्शन शब्द केवल देखना अर्थ में प्रयुक्त होता है परंतु बुद्ध व महावीर के काल में पश्य या दर्शन संवेदन, साक्षात्कार या अनुभव करने के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। वि उपसर्ग 'विशेष' का द्योतक है। अतः विपश्यना शब्द का अर्थ है - विशेष रूप से दर्शन या साक्षात्कार करना।

यहां 'विशेष' से अभिप्राय यह है कि जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही अनुभव करना। बिना किसी प्रकार की मिलावट, जोड़ व भ्रांति के वस्तुस्थिति का साक्षात्कार करना। साधारणतः मानव जो साक्षात्कार करते हैं वह राग-रंजित, द्वेष-दूषित व मोह-विमूढ़ित (मूर्छित) होकर करते हैं। अतः वह साक्षात्कार न होकर राग-द्वेष-मोह से युक्त अशुद्ध साक्षात्कार होता है। इसी अशुद्ध साक्षात्कार का निषेध करने के लिए यहां 'वि' (विशेष) उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। दूसरे शब्दों में स्थिति की सच्चाई का साक्षात्कार यानी अनुभव करना ही विपश्यना है।

विपश्यना धर्मः वस्तु या प्रकृति के स्वभाव को धर्म कहा जाता है– जैसे आग का स्वभाव 'उष्णता' है। यह आग का धर्म है। स्वभाव का साक्षात्कार करना ही विपश्यना है। अर्थात वस्तु या प्रकृति का वास्तविक रूप ही धर्म है और इस धर्म का साक्षात्कार या अनुभव करना ही विपश्यना है। इस प्रकार धर्म और विपश्यना एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

विपश्यना सत्य का साक्षात्कारः सत्य का साक्षात्कार बुद्धिजन्य कल्पनाओं, जल्पनाओं व मान्यताओं से नहीं होता है, अपितु अनुभव से होता है, उस सत्य पर चलने से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सत्य को स्थान देता जाता है, उस पर आचरण करता है, चरण बढ़ाता है, वैसे-वैसे वह सत्य की गहराई व सूक्ष्मता का अधिकाधिक साक्षात्कार करता जाता है। यह नियम है कि जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु, विशेषता लिए व अधिक सक्षम होता है तथा अलौकिक, विलक्षण व अचिंत्य शक्तियों का भंडार होता जाता है। यही नियम या तथ्य विपश्यना पर भी घटित होता है।

विपश्यना में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है उस पर चलने से प्रकृति के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सुक्ष्मतम सत्यों (सिद्धांतों, धर्मों व शक्तियों) का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होने लगता है। और अन्त में अपने ही में विद्यमान अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सामर्थ्य, अनंत सुख, अनंत सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। फिर वह सर्वथा बंधनमुक्त होकर सदा के लिए भव-भ्रमण व दुःख से छुटकारा पा जाता है।

विपश्यना ऋजु मार्गः वस्तुतः विपश्यना कोई रहस्य, जादू या चमत्कार नहीं है प्रत्युत सत्य के साक्षात्कार के क्रमिक विकास का सरल व सुगम मार्ग है। इसमें न तो कोई छिपाने की बात है और न कुछ जोड़ने की बात है, न कुछ साधन-सामग्री की आवश्यकता है और न दार्शनिक बुद्धि की, न ही भाषाज्ञान की आवश्यकता है। केवल अपने अंतरंग में विद्यमान दर्शन व ज्ञान को स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ाना है। वस्तुतः विपश्यना अपनी ही अनुभूति से अपनी भ्रांतियों (मिथ्या-मान्यताओं) को मिटाते हुए पूर्ण सत्य व शुद्ध दर्शन व ज्ञान को प्रकट करने का मार्ग है, प्रक्रिया है। जिस पर चलने में मानव मात्र समर्थ है। भले ही वह किसी जाति का हो, किसी भी देश का हो, कोई भी व्यवसाय करने वाला हो, किसी भी आयु का हो, किशोर हो, युवा हो, वृद्ध हो, विद्वान हो, निरक्षर हो, निर्धन हो, स्त्री हो, पुरुष हो।

प्रस्तुत लेख में विपश्यना-ध्यान से किस प्रकार कर्म-क्षय होकर दुःख से मुक्ति मिलती है, इस पर प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है।

विपश्यनाः आध्यात्मिक विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया

चित्त की स्थिरता– चित्त को स्थिर करने का प्रारंभिक उपाय है चित्त को श्वास के आवागमन पर लगाना। इससे चित्त का भटकना रुक जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है। फिर श्वास पर स्थिर चित्त को शरीर की त्वचा (चमड़ी) पर लगाया जाता है। चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता के कारण त्वचा पर होने वाली क्रियाओं (संवेदनाओ) का अनुभव होने लगता है। चित्त को आगे बढ़ाते हुए सिर से पैर तक, पैर से सिर तक सारे शरीर की संवेदनाओं को बार-बार देखने से चित्त की स्थिरता, समता व सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। निरंतर के अभ्यास से यह वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

समता– विपश्यना में शरीर के बाहरी व भीतरी भाग के सूक्ष्म स्तरों पर चित्त को लगाने से वहां उत्पन्न होने वाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि चित्त अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष करने लगता है, उनमें हर्ष व दुःख का भोग करने लगता है तो चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता खो जाती है, चित्त चंचल व स्थूल हो जाता है। परंतु उन

अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-दुःखद संवेदनाओं का अनुभव करते हुए राग-द्वेष न करके केवल उनको देखते रहना विपश्यना है। इससे समभाव प्रगाढ़ होता है, संयम स्वयं उद्भूत होता है और मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों का संवर होता है।

दर्शनावरणीय कर्म का क्षय– विपश्यना में चित्त की समता, स्थिरता, सूक्ष्मता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है। अर्थात दर्शन का आवरण क्षीण होता जाता है और दर्शन या अनुभव स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूप में विकसित होता जाता है। हमारे शरीर में व त्वचा पर प्रत्येक स्थान या अणु पर निरंतर किसी न किसी प्रकार की क्रियाएं चालू रहती हैं। परंतु हमारे दर्शन (अनुभव) की शक्ति विकसित न होने से, दर्शन पर आवरण आने से, उन क्रियाओं से जनित संवेदनाओं का दर्शन (साक्षात्कार) नहीं कर पाते हैं। परंतु विपश्यी चित्त के संवर व संयम से दर्शनावरण को कम करते हैं जिससे उनको पहले शरीर के बाहरी स्तर पर होने वाली संवेदनाओं के दर्शन होने लगते हैं। फिर जैसे-जैसे संयम या संवर या समताभाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे दर्शनावरण हटता जाता है व शरीर में मांस, रक्त, हड्डियों में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं तरंगों का संवेदन या अनुभव करने लगता है। यहां तक कि शरीर में होने वाली रासायनिक परिवर्तन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं, विद्युत-चुंबकीय लहरों का भी दर्शन करने लगता है।

इस प्रकार दर्शन की शक्ति का स्तर ऊँचा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर तक ऊँचा होता जाता है, बढ़ता जाता है। दर्शनावरण की निर्जरा होती जाती है जिससे दर्शन की शक्ति प्रकट होकर व्यक्त चित्त में उठने वाली लहरें, उससे बंधने वाले कर्म, अवचेतन मन में उठने वाली लहरें तथा उससे भी सूक्ष्म स्तर पर स्थित अपने पूर्व जन्म के संचित संस्कारों, कर्मों व ग्रंथियों का दर्शन करने लगता है और संवर व निर्जरा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। तब दर्शन के समस्त आवरण व पर्दे हट जाते हैं। तथा राग-द्वेष के हट जाने से उसका दर्शन विशुद्ध 'केवल दर्शन' हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयज्ञान अनेक प्रकार का होता है यथा इंद्रियों के माध्यम से होने वाला शब्द, वर्ण, गंध, रस व स्पर्श का ज्ञान, चिंतन व बुद्धिजन्य ज्ञान, दूसरों से सुना हुआ श्रुत ज्ञान आदि। परंतु इन ज्ञानों से वस्तु का स्थूल व बाहरी स्तर का ही बोध होता है जिससे वस्तु की यथार्थता, जो सूक्ष्म व आंतरिक स्तर पर होती है, उसका बोध नहीं होता। यह अयथार्थ ज्ञान हितकारी व कल्याणकारी नहीं होता है अतः इसे असम्यक ज्ञान या मिथ्या ज्ञान कहा है।

विपश्यना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अनुभव-शक्ति बढ़ती जाती है। उस अनुभव से होने वाला ज्ञान यथार्थ (भ्रांति-रहित) सत्य व कल्याण कारी होता है। ऐसा ही ज्ञान 'प्रज्ञा' या 'सम्यक ज्ञान' कहा जाता है। इस यथार्थ-सत्य ज्ञान से इंद्रिय-बुद्धिजनित ज्ञान भी सम्यक होता जाता है।

विपश्यी दर्शन या अनुभव के स्तर पर प्रत्यक्ष देखता है कि केवल बाहरी स्थूल जगत ही नहीं बदल रहा है बल्कि हमारे शरीर की त्वचा, रक्त, मांस, हड्डियों में भी प्रतिक्षण परिवर्तन, बदलाव, उत्पाद-व्यय हो रहा है। यह परिवर्तन सूक्ष्म लोक (जगत) में और भी अधिक तेजी से व शीघ्रता से हो रहा है। शरीर के उपरी भाग से भीतरी भाग में, शरीर में उत्पन्न विद्युत चुंबकीय लहरों में, मन में, अवचेतन मन में क्रमशः सैकड़ो-हजारों गुना अधिक से अधिक द्रुतगति से परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) हो रहा है। यहां तक कि लोक के सूक्ष्म स्तर पर तो यह उत्पाद-व्यय एक पल में करोड़ों अरबों से भी अधिक बार होता प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

इस प्रकार विपश्यना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं, वैसे वैसे संसार की अनित्यता का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) होता जाता है। ऐसे अनित्य संसार में आत्मबुद्धि रखना, उसे अपना मानना, उससे रक्षण व शरण की आशा करना अज्ञान है। संसार में शरण संभव नहीं है, प्रकृति के उत्पाद-व्यय प्रक्रिया से उत्पन्न रोग, जरा, मृत्यु या वियोग से कोई नहीं बच सकता। वह संयोग में वियोग, जीवन में मृत्यु, आशा में निराशा का दर्शन करने लगता है। इससे उसमें तन, मन, धन, जन आदि समस्त परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओं के प्रति ममत्व व अहंभाव यानी अपनेपन का आत्मभाव हटकर अनात्मभाव की जागृति होती है। वह अपनी अनुभूति के आधार पर यह भी जानता है कि रोग, बुढ़ापा, इंद्रियों की शक्ति-क्षीणता, मृत्यु, अभाव, वेदना, पीड़ा आदि तो दुःख हैं ही, परंतु संसार में जिसे सुख कहा जाता है वह भी दुःखरूप ही है। कारण कि वह सुख राग व मोहजनित होता है। राग भी चित्त में असंख्य लहरें या तूफान उठने का रूप है। यह राग का तूफान समता के सागर की शांति को भंग कर अशांति, आकुलता, तनाव, आतुरता उत्पन्न करता है व मूर्छित बनाता है। वह भोगों के सुख में दुःख का दर्शन करने लगता है। वह देखता है कि संसार में सर्वत्र, सर्व स्थितियों में दुःख ही दुःख है। इस प्रकार, अनित्य, अशरण, दुःखद संसार से संबंध स्थापित करना अज्ञान ही है।

विपश्यी यह भी देखताा है कि उत्पत्ति-विनाश स्वरूप प्रत्येक घटना कारण-कार्य के नियमानुसार घट रही है। कोई भी घटना अप्रत्याशित, आकस्मिक या अनहोनी नहीं घटती है। जो कुछ भी हो रहा है वह कर्म के नियम (सिद्धांत) विधान के अनुसार हो रहा है। जो जैसा करता है उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है। अर्थात जो भी सुखद-दुःखद स्थिति प्राप्त होती है वह अपने ही कर्म-फलस्वरूप है। अतः उसमें न तो शिकायत या शोक को गुंजाइश है और न हर्ष को अवकाश है। उस घटना या परिस्थिति को भला-बुरा मानना या कोसना व राग-द्वेष करना अज्ञान है।

इस प्रकार सूक्ष्म दर्शन या साक्षात्कार की प्रगति से प्रज्ञा बढ़ती जाती है। उसे लोक के सूक्ष्म तत्त्वों का या गहन नियमों का ज्ञान अधिक से अधिक होता जाता है। उसे ग्रंथि-बंध, कर्म-विपाक, जाति-स्मरण, जन्म-मरण, संवर, निर्जरा, विमोक्ष आदि का प्रत्यक्ष-स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु व शक्तिशाली होता है। इस नियम के अनुसार सूक्ष्म तत्त्वों के प्रत्यक्षी-करण से सीमित व विकृत ज्ञान विशुद्ध एवं परिशुद्ध होता जाता है। अंत में ज्ञान पर से सर्व आवरण हटकर व विकार दूर होकर निर्मल केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२० वैशाख पूर्णिमा दि. ३-५-१९७७ अंक ११)

उद्‌बोधन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ!

आओ, धर्म-शरण ग्रहण करें।

बड़ी मंगलकारिणी है धर्म की शरण!

धर्म सत्य है, ऋत है, विश्वविधान है, कुदरत का कानून है। सजीव व निर्जीव, सभी धर्म पर आधारित हैं। अणु अणु को, पिंड पिंड को, ब्रह्मांड ब्रह्मांड को धर्म ही धारण किए हुए है। अणु, पिंड, ब्रह्मांड धर्म को ही धारण किए हुए हैं।

धर्म असीम, अनंत, अपरिमित है! घट-घट में बसा हुआ, अणु-अणु में समाया हुआ है! सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर है! जगदीश्वर, जगदाधार, जगत-नियन्ता है! धर्म सचमुच अशरण-शरण है!

साधको! जीवन में जब-जब संकट आए, आंधी आए, तूफान आए, बेसहारापन आए, किंकर्तव्य-विमूढ़ता आए तब-तब धर्म की शरण ग्रहण करना सीखें। बड़ी राहत मिलती है धर्म की शरण में। जब कभी पैशाचिक प्रभंजन निर्मम अट्टहास करता हो, असीम जल-प्लावन भयानक रौद्र रूप धारण कर लेता हो, शांत जलधि में महाज्वार उमड़ पड़ता हो, चारों ओर उत्ताल तरंगें विषधर नाग की तरह फुंकारने लगती हों, विनाशकारी जल-भ्रमर सब को अपने भीतर लीलने के लिए व्यग्र हो उठता हो, तब आदमी के सभी सहायक कन्नी काट जाते हैं, सभी संबंधी बगले झांकने लगते हैं, सभी सहयोगी तोते की तरह आंख बदल लेते हैं, जन्म-जन्म के साथी मुँह मोड़ लेते हैं, बंधु-बांधव अपने अपने प्राण बचाने में लग जाते हैं, सभी डूबते हुए किसी न किसी तिनके का सहारा खोजने में लगे रहते हैं। सारा अपनापन हवा हो जाता है। स्वजन, परिजन पराए बन जाते हैं। ऐसे समय, साधको! एकमात्र धर्म ही सहायक होता है। धर्म ही बेड़े का काम करता है, द्वीप का काम करता है। धर्म की शरण ही सच्ची शरण होती है। जब दुर्बल व्यक्ति थका मांदा होने के कारण अपने आप को बचाने के लिए हाथ-पांव भी नहीं चला पाता, कहीं किसी ओर किसी तिनके का सहारा भी नहीं पाता तब अपने आपको धर्म के बहाव में बहने के लिए छोड़ देता है। और जहां समर्पित भाव से धर्म के बहाव में बहने लगता है, वहीं धर्म कवच की तरह संरक्षक बन जाता है। धर्म कभी धोखा नहीं देता, कभी विश्वासघात नहीं करता, कभी नीचे की ओर नहीं धकेलता। साधको! जरा धर्म के प्रति समर्पण करना तो सीखें!

साधको! मैं सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई बात नहीं कहता। अपने अनुभव की बात कहता हूं। सचमुच! बड़ी राहत मिलती है, धर्म के प्रति समर्पित होने में, धर्म की शरण जाने में।

पर अमूर्त धर्म की शरण जाना कठिन काम है। हम सदा से किसी न किसी मूर्त व्यक्ति की ही शरण जाने के आदी रहे हैं न! और व्यक्ति, जो भी हो, बेचारा स्वयं असीम, स्वयं शांत, स्वयं असुरक्षित, स्वयं अशरण है! दूसरे को भला क्या शरण देगा? किसी शरणार्थी को समीप आया देख, स्वयं अपनी गठरी-मुठरी संभालने लगेगा। अपनी सुरक्षा की चिंता करने लगेगा। दुर्बल दुर्बल की क्या सहायता करेगा? अनाथ अनाथ को क्या सहयोग देगा? अंधा अंधे को क्या रास्ता दिखायेगा?

अतः सबल और सक्षम अमूर्त धर्म की ही सहायता लें। धर्म की ही शरण ग्रहण करें! कुछ देर के लिए ही सही, जरा निःस्पृह होकर धर्म के बहाव में जीवन को बहने देने के लिए खुला छोड़कर तो देखें। बड़ा आत्मबल प्राप्त होगा, बड़ा आत्मविश्वास जागेगा। अपने आपको बहाव के सहारे छोड़कर नए संस्कार बनाने बंद करना है। इसी से पुरानों की निर्जरा का रास्ता खुलता है और पूर्व कर्मों के फलस्वरूप आए तूफान का बल अपने आप क्षीण होने लगता है। यही धर्म की शरण जाना है।

देखें, संकट के समय इसे आजमाकर देखें। भविष्य आनंद मंगल से भर उठेगा। दिशाएं हर्ष-उमंगों से नाचने लगेंगी। देखते-देखते सारी निराशा काफूर हो जायगी। सारा वातावरण कल्याण की तरंगों से तरंगित हो उठेगा।

इसीलिए साधको आओ! धर्म की शरण ग्रहण करें! सचमुच बड़ी मंगलदायिनी है धर्म की शरण!

---o---

विपश्यनाः दुःख-मुक्ति का मार्ग

कन्हैयालाल लोढ़ा, एम.ए.

कर्म-सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में–

(गतांक से आगे)

मोहनीय कर्म का क्षय

विपश्यना के अभ्यास से जैसे-जैसे समता व सूक्ष्म अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है वैस-वैसे राग-द्वेष-मोह आदि से उठने वाली लहरों का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है। साधक यह भी देखने लगता है कि राग-द्वेष से नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। ये ग्रंथियां समय पाकर फल देती हैं– इनसे तन-मन का सर्जन होता है, जन्म-मरण व सुखद-दुःखद संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करने से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, फिर नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। फिर सुखद-दुःखद संवेदनाओं की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार जन्म-मरण का यह क्रम बार-बार चलने लगता है। यही भव-भ्रमण अनंत काल से चल रहा है। तथा वह यह भी अनुभव करने लगता है कि लहर द्वेष की उठे या राग की उठे अथवा अन्य किसी भी प्रकार की उठे, उससे शांति, सुख, स्वाधीनता, संतुष्टि लुप्त हो जाती है। उस प्रकार जहां वह पहले राग-द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ आदि दोषों में सुख का आस्वादन करता था अब इनमें दुःख का अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार विपश्यी इस परिणाम पर पहुंचता है कि दुःख या भव-चक्र भेदन का एक ही उपाय है कि नवीन ग्रंथियों का निर्माण न हो और पुरानी ग्रंथियों का भेदन हो जाय, उदीर्णा होकर उनकी निर्जरा हो जाय।

नवीन ग्रंथियों का निर्माण पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेष रूपी प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रंथियों के निर्माण को रोकने का एक उपाय है कि पुराने कर्मों के फल स्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं से राग न करे, दुःखद संवेदनाओं से द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टाभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने पर, संवर से नवीन ग्रंथियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

ग्रंथियों का भेदन हो जाय उदीर्णा होकर उनकी निर्जरा हो जाय।

नवीन ग्रंथियों का निर्माण पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेष रूपी प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रंथियों के निर्माण को रोकने का एक उपाय है कि पुराने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं से राग न करे, दुःखद संवेदनाओं से द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने पर संवर से नवीन ग्रंथियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

पुरानी ग्रन्थियों (कर्मों) के नाश का उपाय है ग्रंथियों का भेदन करना। तन, मन, धन, जन आदि सब से आसक्ति (राग-द्वेष) छोड़ना, समता में रहना यह स्थूल ग्रंथि-भेदन है। सूक्ष्म शरीर, चित्त, अवचेतन मन आदि के स्तर पर प्रकट व

उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं (ग्रंथियों) का धुन-धुनकर विभाजन करना, टुकड़े-टुकड़े करना, यह सूक्ष्म ग्रंथियों का भेदन है। इस ग्रंथि-भेदन से पुराने कर्मों के समुदय की तीव्रता के साथ उदीरणा होकर निर्जरा होती है।

इस ग्रंथि-भेदन में ध्यान (चित्त की एकाग्रता), स्वाध्याय (स्व का अध्ययन, स्वानुभव), कायोत्सर्ग (सूक्ष्मतर स्तर पर तन-मन का उत्सर्ग करना, अहंभाव का विसर्जन करना) एक साथ होता है। इससे राग-द्वेष व मोह पर विजय मिलती है अर्थात् राग, द्वेष, माया-मोह के प्रवाह का प्रभाव घटता जाता है। यह विजय साधक के उत्साह, सुख, समता, शांति, स्वाधीनता को बढ़ाती है जिससे उसमें राग, द्वेष पर अधिक विजय पाने का पुरुषार्थ जगता है। इस प्रकार धर्मचक्र से वह धीरे-धीरे समता की चरम अवस्था में पहुँचकर राग, द्वेष, मोह आदि विकारों पर पूर्ण विजय पाकर वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह हो जाता है। उसका कर्मत्व, भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है और केवल ज्ञान, केवल दर्शन रह जाता है।

अन्तराय कर्म का क्षय

विपश्यना साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह घटते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे अनुभव के क्षेत्र में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रगति होती जाती है तथा आंतरिक शक्तियां व अनुभूतियां विशेषरूप से प्रकट होती जाती हैं। आंतरिक शक्ति के बढ़ने से उसका पुरुषार्थ-वीर्य बढ़ता है जो उत्साह के रूप में प्रकट होता है और उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि या सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

आंतरिक शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे अधिक से अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति बढ़ती जाती है जो समत्व व प्रीति व प्रमोद के रूप में व्यक्त होती है।

विपश्यना से विरक्तिभाव बढ़ता है जो कामनाओं, वासनाओं, कृत्रिम आवश्यकताओं को घटाता है। इनकी उत्पत्ति न होने से साधक को अपूर्ति से होने वाला दुःख नहीं भोगना पड़ता। संतुष्टि व तृप्तिभाव की अभिवृद्धि होती है तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः हो जाती है। यह प्रकृति का नियम है कि जो प्राप्त का सदुपयोग करता है उसे अधिक हितकर वस्तुओं की प्राप्ति अर्थात लाभ अपने आप होता है। अभाव का दुःख उसे पीड़ित नहीं करता। उसका चित्त सदा समृद्धि से भरा होता है।

विपश्यना साधना से जैसे-जैसे राग पतला पड़ता जाता है वैसे-वैसे

स्वार्थपरता, संकीर्णता घटती जाती है: सेवाभाव, करुणाभाव, परोपकार और दान की भावना बढ़ती जाती है।

जैसे-जैसे राग-द्वेष, मोह क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे दुर्गुण रूप अंतराय कर्मों का क्षय होता है और आंतरिक सद्गुणों की अधिकाधिक अभिवृद्धि होती जाती है। पूर्ण वीतराग अवस्था में ये गुण असीम व अनंत हो जाते हैं।

इस प्रकार विपश्यना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय कर्म क्षीण होते हैं। इन चारों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि इनमें किसी एक कर्म के क्षीण होने का प्रभाव शेष तीन कर्मों पर भी पड़ता है और उनमें भी क्षीणता आती है।

उपर्युक्त चार कर्मों का संबंध अपने ही गुण, ज्ञान, दर्शन, पवित्रता व वीर्य से है। इन कर्मों के कारण इन गुणों में विकृति व न्यूनता आती है। इन कर्मों के क्षीण होने से इन गुणों में वृद्धि होती है और पूर्ण क्षीण होने पर इन गुणों में असीमता, पूर्णता आ जाती है।

उपर्युक्त चार कर्मों के अतिरिक्त नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय ये चार कर्म और हैं। ये कर्म शरीर, इंद्रिय आदि भौतिक या बाहरी पदार्थों से संबंधित हैं। यह नियम है कि भीतरी स्थिति के अनुरूप ही बाहरी स्थितियों एवं परिस्थितियों का निर्माण होता है या यों कहे कि चेतना की सूक्ष्म शक्तियों व गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुरूप ही प्रकृति भौतिक पदार्थों, शरीर, इंद्रिय आदि की संरचना करती है यही नाम कर्म है। नाम कर्म से उत्पन्न शरीर की अवधि आयुकर्म है। शरीर से संबंधित जन्म-जात संस्कार गोत्र कर्म है और शरीर चित्त आदि के माध्यम से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाएं वेदनीय कर्म हैं। इन चारों कर्मों की उत्पत्ति का कारण भी राग, द्वेष, मोह ही है। ये जैसे-जैसे हटते जाते हैं, आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है। इसका प्रभाव नाम, गोत्र, आयु व गोत्र के निर्माण करने वाले कर्मों का बंध रुक जाता है और पुराने कर्म उदय व उदीरणा को प्राप्त होकर निर्जरित हो जाते हैं। तदनंतर कर्मातीत अवस्था प्राप्त होती है। इसे ही निर्वाण कहा गया है– नितांत दुःख-निरोध की अवस्था, जो अनिर्वचनीय है, केवल अनुभवगम्य है।

(वर्ष ६ बुद्धवर्ष २५२१ ज्येष्ठ पूर्णिमा दि. २-६-७७ अंक १२)

विपश्यना साहित्य

हिंदी

- निर्मल धारा धर्म की - (पांच दिवसीय प्रवचन) रु. ५५/-
- प्रवचन सारांश (शिविर-प्रवचन) रु. ४५/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. ८०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ५०/-
- धर्मः आदर्श जीवन का आधार रु. ४०/-
- तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, भाग-२ रु. १३०/
- धारण करे तो धर्म रु. ७०/-
- क्या बुद्ध दुक्खवादी थे? रु. ३५/-
- मंगल जगे गृही जीवन में रु. ४०/-
- धम्मवाणी संग्रह (पालि गाथाएं एवं हिंदी अनु.) रु. ४०/-
- विपश्यना पगोडा स्मारिका रु. १००/-
- सुत्तसार भाग १ (दीघ एवं मज्झिम निकाय) रु. ९५/-
- सुत्तसार भाग २ (संयुत्तनिकाय) रु. ५०/-
- सुत्तसार भाग ३ (अंगुत्तर एवं खुद्दकनिकाय) रु. ४५/-
- धन्य बाबा! रु. ३५/-
- कल्याणमित्र सत्यनारायण गोयन्का (व्यक्तित्व और कृतित्व) रु. ५०/-
- पातंजल योगसूत्र रु. ५०/-
- आहुनेय्य, पाहुनेय्य, अंजलिकरणीय - डॉ. ओम प्रकाश जी रु. ३०/-
- राजधर्म [कुछ ऐतिहासिक प्रसंग] रु. ३५/-
- आत्म-कथन भाग-१ रु. ३५/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. १०/-
- देश की बाह्य सुरक्षा रु. ०५/-
- गणराज्य की सुरक्षा कैसे हो! रु. ०६/-
- शाक्यों और कोलियों के गणतंत्र का विनाश क्यों हुआ? रु. १०/-
- अंगुत्तर निकाय, भाग-१ रु. १००/-
- केंद्रीय कारागृह जयपुर, विपश्यना का प्रथम जेल शिविर रु. ३०/-
- विपश्यना : लोकमत भाग-१ रु. ५५/-
- विपश्यना : लोकमत भाग-२ रु. ४५/-
- अग्रपाल राजवैद्य जीवक रु. २०/-
- मंगल हुआ प्रभात (हिंदी दोहे) रु. ५५/-
- पथ-प्रदर्शिका रु. २/-
- विपश्यना क्यों? रु. १/-
- सम्राट अशोक के अभिलेख रु. ५०/-
- आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का संक्षिप्त जीवन-परिचय रु. २०/-
- अहिंसा किसे कहें? रु. १५/-
- लकुण्डक भद्दिय रु. १०/-
- गौतम बुद्धः जीवन-परिचय और शिक्षा रु. २५/-
- भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा रु. १०/-
- बुद्ध-जीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- भगवान बुद्ध के अग्रश्रावक महामोग्गल्लान रु. ३५/-
- क्या बुद्ध नास्तिक थे? रु. ८५/-
- तिपिटक में सम्यक संबुद्ध, (६ भागों में) भाग-१ रु. ४५/-, भाग-२ रु. ५०/-, भाग-३ रु. ५५/-, भाग-४ रु. ४५/-, भाग-५ रु. ४५/-, भाग-६ रु. ५५/-
- महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्गम और विकास (११६ चित्रों का संग्रह) सजिल्द रु. ६२५/-
- भगवान बुद्ध के महाश्रावक महाकस्सप (धुतांगधारियों में 'अग्र') रु. ४०/-
- महामानव बुद्ध की महान विद्या विपश्यना का उद्गम और विकास रु. १४५/-
- भगवान बुद्ध के अग्रउपासक अनाथपिण्डिक रु. ५०/-
- भगवान बुद्ध की अग्रश्राविका किसागोतमी रु. ३०/-
- चित्त गृहपति एवं हत्थक आळवक रु. ३०/-
- खुशियों की राह रु. १५०/-
- विसाखा मिगारमाता रु. ३५/-
- मगधराज सेनिय बिम्बिसार रु. ४५/-
- बुद्धसहस्सनामावली (पालि एवं हिंदी) रु. ३५/-
- आनन्द – भगवान बुद्ध के उपस्थाक रु. १२०/-
- जीने की कला रु. ७०/-
- परम तपस्वी श्री रामसिंह जी रु. ५५/-
- भगवान बुद्ध की अग्रउपासिकाएं खुज्जुत्तरा एवं सामावती तथा उत्तरानन्दमाता रु. २५/-
- विपश्यना पत्रिका संग्रह भाग - १ रु. ८०/-
- विपश्यना पत्रिका संग्रह भाग - २ रु. ७५/-
- आदर्श दंपति नकुलपिता एवं नकुलमाता रु. २५/-

- तिक-पट्ठान (संक्षिप्त रूपरेखा) रु. ३५/-
- १२ हिंदी पुस्तिकाओं का सेट रु. १४/-
- धम्म-वंदना (पालि गाथाएं, हिंदी अनुवाद) रु. ४५/-
- धम्मपद (संशोधित हिंदी अनुवाद सहित) रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा एवं भाषानुवाद) रु. ५५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. ३५/-
- बुद्धगुणगाथावली (पालि) रु. ३०/-
- बुद्धसहस्सनामावली (पालि) रु. १५/-
- प्रारंभिक पालि रु. ८५/-
- प्रारंभिक पालि की कुंजी रु. ५०/-
- जागो लोगां जगत रा (राजस्थानी दूहा) रु. ४५/-
- परिभाषा धरम री (राजस्थानी) रु. १०/-
- ५ राजस्थानी पुस्तिकाओं का सेट रु. ५/-
- विश्व विपश्यना स्तूप का संदेश (हिंदी, मराठी, अंग्रेजी) रु. १०/-

मराठी

- जगण्याची कला रु. ७०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. ८०/-
- प्रवचन सारांश रु. ४०/-
- धर्मः आदर्श जीवनाचा आधार रु. ४०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ६५/-
- निर्मळ धारा धर्माची रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (भाषानुवाद) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (समीक्षा) रु. ४०/-
- मंगलमय गृहस्थ-जीवन रु. ३५/-
- भगवान बुद्धाची सांप्रदायिकता-विहीन शिकवणुक रु. १०/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- आनंदाच्या वाटेवर रु. १५०/-
- आत्म-कथन भाग-१ रु. ५०/-
- अग्रपाल राजवैद्य जीवक रु. २०/-
- महामानव बुद्धाची महान विद्या विपश्यनाः उगम आणि विकास रु. १२५/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- लकुण्डक भद्दिय रु. १२/-
- प्रमुख विपश्यनाचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयंका यांचा संक्षिप्त जीवन-परिचय रु. १८/-

गुजराती

- प्रवचन सारांश रु. ४५/-
- धर्मः आदर्श जीवननो आधार रु. ४५/-
- महासतिपट्ठानसुत्त रु. २०/-
- जागे अंतर्बोध रु. ७५/-
- धारण करे तो धर्म रु. ७०/-
- जागे पावन प्रेरणा रु. १००/-
- क्या बुद्ध दुःखवादी थे? रु. ३०/-
- विपश्यना शा माटे? (पुस्तिका) रु. ०२/-
- मंगल जगे गृही जीवन में रु. ३५/-
- निर्मल धारा धर्म की रु. ६५/-
- बुद्धजीवन-चित्रावली रु. ३३०/-
- लोक गुरु बुद्ध रु. ०६/-
- भगवान बुद्ध की साम्प्रदायिकता-विहीन शिक्षा रु. १०/-

अन्य भाषाओं में

- द आर्ट ऑफ लिविंग (तमिळ) रु. ६०/-
- डिस्कोर्स समरीज (तमिळ) रु. ३०/-
- ग्रेसियस फ्लो ऑफ धम्म (तमिळ) रु. २५/-
- मंगल जगे गृही जीवन में (तेलगु) रु. ३०/-
- प्रवचन सारांश (बंगाली) रु. ३५/-
- धर्मः आदर्श जीवन का आधार (बंगाली) रु. ३०/-
- महासतिपट्ठानसुत्त (बंगाली) रु. ९०/-
- प्रवचन सारांश (मलयालम) रु. ४५/-
- निर्मल धारा धर्म की (मलयालम) रु. ४५/-
- जीने का हुनर (उर्दू) रु. ७५/-
- धर्मः आदर्श जीवन का आधार (पंजाबी) रु. ५०/-

पालि तिपिटक सेटः

अङ्गुत्तरनिकाय (अजिल्द) (१२ ग्रंथ) रु. १५००/-
खुद्दकनिकाय - सेट १ (९ ग्रंथ) रु. ५४००/-
दीघनिकाय अभिनवटीका (रोमन) (भाग १ और २) रु. १०००/-

English Publications

- Sayagyi U Ba Khin Journal Rs. 225/-
- Essence of Tipitaka by U Ko Lay Rs. 130/-
- The Art of Living by Bill Hart Rs. 85/-
- The Discourse Summaries Rs. 60/-
- Healing the Healer by Dr. Paul Fleischman Rs. 35/-
- Come People of the World Rs. 40/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching Rs. 45/-
- The Gracious Flow of Dharma Rs. 40/-
- Discourses on Satipaṭṭhāna Sutta Rs. 80/-
- The Wheel of Dhamma Rotates Rs. 850/-
- Vipassana : Its Relevance to the Present World Rs. 110/-
- Dharma: Its True Nature Rs. 70/-
- Vipassana : Addictions & Health (Seminar 1989) Rs. 70/-
- The Importance of Vedanā and Sampajañña Rs. 135/-
- Pagoda Seminar, Oct. 1997 Rs. 80/
- Pagoda Souvenir, Oct. 1997 Rs. 50/-
- A Re-appraisal of Patanjali's Yoga- Sutra by S. N. Tandon Rs. 85/-
- The Manuals Of Dhamma by Ven. Ledi Sayadaw Rs. 205/-
- Was the Buddha a Pessimist? Rs. 65/-
- Psychological Effects of Vipassana on Tihar Jail Inmates Rs. 80/-
- Effect of Vipassana Meditation on Quality of Life (Tihar Jail) Rs. 60/-
- For the Benefit of Many Rs. 160/-
- Manual of Vipassana Meditation Rs. 80/-
- Realising Change Rs. 140/-
- The Clock of Vipassana Has Struck Rs. 130/-
- Meditation Now : Inner Peace through Inner Wisdom Rs. 85/-
- S. N. Goenka at the United Nations Rs. 20/-
- Defence Against External Invasion Rs. 10/-
- How to Defend the Republic? Rs. 6/-
- Why Was the Sakyan Republic Destroyed? Rs. 12/-
- Mahāsatipaṭṭhāna Sutta Rs. 65/-
- Pali Primer Rs. 95/-
- Key to Pali Primer Rs. 55/-
- Guidelines for the Practice of Vipassana Rs. 2/-
- Vipassana In Government Rs. 1/-
- The Caravan of Dhamma Rs. 90/-
- Peace Within Oneself Rs. 10/-
- The Global Pagoda Souvenir 29 Oct.2006 (English & Hindi) Rs. 60/-
- The Gem Set In Gold Rs. 75/-
- The Buddha's Non-Sectarian Teaching Rs. 15/-
- Acharya S. N. Goenka An Introduction Rs. 25/-
- Value Inculcation through Self-Observation Rs. 35/-
- Glimpses of the Buddha's Life Rs. 330/-
- Pilgrimage to the Sacred Land of Dhamma (Hard Bound) Rs. 750/-
- An Ancient Path Rs. 100/-
- Vipassana Meditation and the Scientific World View Rs. 15/-
- Path of Joy Rs. 200/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (Small) Rs. 160/-
- Vipassana Meditation and Its Relevance to the World (Coffee Table Book) Rs. 800/-
- The Great Buddha's Noble Teachings The Origin & Spread of Vipassana (HB) Rs. 650/-
- Buddhaguṇagāthāvalī (in three scripts) Rs. 30/-
- Buddhasahassanāmāvalī (in seven scripts) Rs. 15/-
- English Pamphlets, Set of 9 Rs. 11/-
- Set of 10 Post Card Rs. 35/-
- Gotama the Buddha: His Life and His Teaching (French) Rs. 50/-
- Meditation Now: Inner Peace through Inner Wisdom (French) Rs. 80/-
- For the Benefit of Many (French) Rs. 195/-
- For the Benefit of Many (Spanish) Rs. 125/-
- The Art of Living (Spanish) Rs. 130/-
- Path of Joy (German, Italian, Spanish, French) Rs. 300/-

संपर्कः विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३, जि. नाशिक, महाराष्ट्र. फोन: ०२५५३-२४४०७६, २४४०८६, २४३७१२, २४३२३८. फैक्सः ०२५५३-२४४१७६. (दक्षिण भारतीय भाषाओं में अनुवादित विपश्यना साहित्य, स्थानीय केंद्रों पर उपलब्ध है) Email: vri_admin@dhamma.net.in; **विपश्यना विशोधन विन्यास के प्रकाशन अब ऑनलाइन भी खरीदे जा सकते हैं। कृपया देखें www.vridhamma.org**

विपश्यना साधना केंद्र

विश्वभर में विपश्यना के निम्नलिखित केंद्र हैं। इन केंद्रों पर प्रायः हर माह दस दिवसीय आवासीय शिविर आयोजित होते हैं। इच्छुक व्यक्ति किसी भी केंद्र से भावी शिविर-कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त करके, अपनी सुविधानुसार सम्मिलित हो सकते हैं: –

प्रमुख केंद्र = धम्मगिरि, धम्मतपोवन : विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी-४२२४०३, नाशिक. फोन: [९१] (**०२५५३**) २४४०७६, २४४०८६, २४३७१२, २४३२३८; फैक्स: ०२५५३-२४४१७६. Website: www.vri.dhamma.org, Email: <info@giri.dhamma.org> (केवल कार्यालय के समय अर्थात सुबह १० बजे से सायं ५ बजे तक).

धम्मनासिकाः संपर्कः १) **नाशिक विपश्यना केंद्र,** म.न.पा. जलशुद्धिकरण केंद्र के सामने, शिवाजीनगर, सातपुर, (पोस्ट-YCMOU), नाशिक-४२२२२२. संपर्कः फोन: (०२५३) ६५१६-२४२, ३२०३-६७७, मोबाइल: ९८२२५-१३२४४, Email: info@nasika.dhamma.org

धम्मसरिताः विपश्यना केंद्र, जीवन संध्या मंगल संस्थान, मातोश्री वृद्धाश्रम, सौरगांव, पोस्ट पडघा, ता. भिवंडी, जि. ठाणे-४२११०१ (खडावली मध्य रेल्वे स्टेशन के पास). फोन: (०२५२२) ६९५३०१, **संपर्कः** +९१ ७७९८३-२४६५९, ७७९८३-२५०८६.

धम्ममनमोदः मनमाड विपश्यना केंद्र, अनकाई किला स्टेशन के पास, पो. अनकाई, ता. येवला, जि. नाशिक-४२२ ४०३ **संपर्कः** (०२५९१) २२५१४१-२३१४१४.

धम्मवाहिनीः मुबई परिसर विपश्यना केंद्र, गांव रूंदे, टिटवाला (पूर्व) कल्याण, जि. ठाणे. **संपर्कः संपर्कः** मोबाईल: ९७७३०-६९९७८. केवल कार्यालय के दिन– १२ से सायं ६ तक.

धम्मसाकेतः विपश्यना केंद्र, नालंदा स्कूल के पास, कानसई रोड, सुभाष टेकड़ी, उल्हासनगर-४२१००४, जि. ठाणे, महाराष्ट्र

धम्मविपुलः विपश्यना साधना केंद्र, सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट, प्लॉट नं. ९१ए; सेक्टर २६, पारासिक हिल, सीबीडी बेलापुर, नवी मुंबई ४०० ६१४. फोन: (०२२) २७५२-२२७७. Email: dhammavipula@gmail.com

धम्मपत्तनः एस्सेल वर्ल्ड के पास, गोराई खाड़ी, बोरीवली (पश्चिम) मुंबई – ४०० ०९१ व्यवस्थापक, फोन: (९१) (०२२) २८४५-२२३८, ३३७४-७५०१, मोबा. ९७७३०-६९९७५, (सुबह ११ से सायं ५ बजे तक); टेलि-फैक्स: (०२२) ३३७४-७५३१, Email: info@pattana.dhamma.org; Website: www.pattana.dhamma.org

धम्मसरोवरः खान्देश विपश्यना केंद्र, गेट नं. १६६, डेडरगांव जलशुद्धिकरण केंद्र के पास, मु.पो. तिखी-४२४ ००२, जिला- धुळे, (०२५६२) २०३४८२, ६९९५७३. मोबा. ९२२५४-६१०२१. **संपर्कः** फोन: २२२८६१, मोबा. ९९२२६-०७१२८, ९४०३४-२४३३३, ९४२२७-७७९०२. Email: info@sarovara.dhamma.org

धम्मानन्दः पुणे विपश्यना केंद्र, मरकल गांव के पास, आलंदी से ८ कि.मी. मोबा. कार्यालय ९२०१३-३५६६८. व्यवस्थापक मोबा. ९४२०४-८२८०५. **संपर्कः** पुणे विपश्यना समिति, नेहरू स्टेडियम के सामने, आनंद मंगल कार्यालय के पास, दादावाडी, पुणे-४११००२. फोन: (**०२०**) २४४६८९०३, २४४३६२५०; टेलि/फैक्स: २४४६४२४३. Email: info@ananda.dhamma.org Website:www.pune.dhamma.org;

धम्मपुण्णः संपर्कः पुणे विपश्यना समिति, दादावाडी, नेहरू स्टेडियम के सामने, आनंद मंगल कार्यालय के पास, पुणे-४११००२. फोन: (०२०) २४४३६२५०. २४४६८९०३. फैक्स: २४४६४२४३; Email: info@punna.dhamma.org

धम्मालयः दक्खिन विपश्यना अनुसंधान केंद्र, रामलिंग रोड, आलते पार्क, आलते, ता. हातकणंगले, जि. कोल्हापुर, पिन: ४१६१२३. फोन: **०२३०**-२४८७१६७, २४८७३८३, Email: info@alaya.dhamma.org. संपर्कः कार्यालयः २१०१/१९ इ, जयहिंद अपार्टमेंट, लक्ष्मीनगर, कोल्हापुर-४१६००५, फोन:(२३१) २५३०९९९, मोबा. ९७६७४-१३२३२.

धम्मअनाकुलः विपश्यना साधना केंद्र, खापरखेड़ फाटा, तेल्हारा-४४४१०८ जि. अकोला. **संपर्कः** १) विपश्यना चैरिटेबल ट्रस्ट, शेगांव, अपना बाजार, मेन रोड, शेगांव, जि. बुलडाना. फोन: ९५७९८-६७८९०, ९८८१२-०४१२५. २) श्री महेंद्र सिंह आनंद, मोबाइल: ९४२२१-८१९७०. Email: info@anakula.dhamma.org

धम्मअजयः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम - अजयपूर, पो. चिचपल्ली, मुल रोड, चंद्रपुर, Email: dhammaajaya@gmail.com **संपर्कः** १) श्री घरडे, सुगत नगर, नगीनाबाग वार्ड नं. २ जि. चंद्रपुर पिन-४४२४०१. मोबाइल: ८००७१५१०५०, ९४२१७-२१००६, २) श्री प्रीतिकमल पाटील, मोबाइल: ९४२१७-२१००६, ९८२२५-७०४३५, ९३७०३१२६७३,

धम्ममल्लः संपर्कः श्री. शेलके, सिद्धार्थ सोसायटी, यवतमाळ, ४४५००१, फोन: ९४२२८-६५६६१.

धम्मभूसनः विपश्यना साधना समिति, शांतिनगर, ओमकार कॉलोनी, कोटेचा हायस्कूल के पास, जि. जलगांव, भुसावल ४२५२०१, Email: info@bhusana.dhamma.org, **संपर्कः** मोबा. ९८२२९-१४०५६.

धम्मअजन्ताः अजंता अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना समिति, एम. जी. एम. मेडिकल कालेज कैम्पस, एन-६, सिडको, औरंगाबाद-४३१००३. फोनः (०२४०) २३५००९२, २४८०१९४. Email: vipassana@emgm.org **संपर्कः** १) श्री रायबोले, फोनः (०२४०) २३४१८३६. २) श्री के. एन. पटेल, फोनः (निवास) (०२४०) २३५४२२३, (कार्या.) २३३३१३६. मोबाईलः ९४२२२-११३४४.

धम्मनागः नागपुर विपश्यना केंद्र – माहुरझरी गांव, नागपुर-कलमेश्वर रोड के पास, नागपुर; **संपर्कः** फोन: **०७१२**-२४५८६८६, २४२०२६१, मोबा. ९४२३४-०५६००; फैक्स: २५३९७१६. Email: info@naga.dhamma.org

धम्मसुगतिः संपर्कः १) श्री नारनवरे, एकायनो मग्गो धम्म प्रशिक्षण संस्था, सुगतनगर, नागपुर-१४. फोन: (०७१२) २६३०११५, फैक्स: २६५०८६७. मोबा. ९४२२१-२९२२९. २) सुरेंद्र राऊतः २६३२९१८. मोबा. ९२२६९-९६०८७.

धम्मवसुधाः विपश्यना केंद्र, हिवरा पोस्ट झडशी, ता. सेलु, जि. वर्धा **संपर्कः** १) श्री एवं सौ बांते, मोबा. ९३२६७३२५५०, ९३२६७३२५४७. २) श्री काटवे, मोबा. ९७३००६९७२६, Email: dhammavasudha@yahoo.com.in

धम्म छत्रपतिः फलटन, सातारा, महाराष्ट्र

धम्म आवासः लातुर विपश्यना समीती, आर. टी. ओ आफीस के पास, वसंत विहार कालोनी, बाभळगाव रोड, लातूर-४१३५३१ **संपर्कः** १) श्री द्वारकादास भुतडा, मोबा. ९६७३२५९९००, ०२३८२-२५९२८४, २) श्री आकाश कामदार, मोबा. ९९७०२-७७७०१.

धम्म निरंजनः विपश्यना साधना केंद्र, नेरली कुशता धाम नेरली. (नांदेड से ५ कि. मी. की दुरी पर) **संपर्कः** १) श्री एस. एम. जोंधले, मोबाइल: ९४२२१८९३१८. २) डॉ. कुलकर्णी, फोनः (०२४६२) २५२६५९. मोबाइल: ९४२२१७३२०२.

धम्मथलीः विपश्यना केंद्र, पो.बॉ. २०८, जयपुर-३०२००१, राजस्थान, फोनः **[९१] ०१४१**-२६८०२२०, मोबा. ०-९६१०४-०१४०१, ०९६०२८-४८८९६. फैक्सः २५७६२८३. Email: info@thali.dhamma.org

धम्ममरुधराः विपश्यना साधना केंद्र, लहरिया रिसोर्ट के पीछे, पाल-चौपासनी लींक रोड, चोखा, जोधपुर-३४२००९. मोबा. +९१-९३१४७२७२१५, +९१-९८२८१३११२०, फैक्सः +९१-२९१-२७४६४३५. Email: info@marudhara.dhamma.org **संपर्कः** श्री नेमीचंद भंडारी, ४१, अशोक नगर, पाल लींक रोड, जोधपुर-३४२००३. मोबा.: +९१-९८२९०२७६२१,

धम्मपुब्बजः चूरू (राजस्थान) **पुब्बज भुमी विपश्यना ट्रस्ट,** बलेरी रोड, (चूरू से ६ कि.मी.) चूरू (राजस्थान): **संपर्कः** १) श्री श्रवण कुमार फुलवारी, सी-८६, सामुदायीक भवन के पास अग्रसेन नगर, चूरू, मोबा. ०९४१४६-७६०६१. Email: gk.churu@gmail.com २) श्री सुरेश खन्ना, ६५ इंदिरा कालोनी, वनी पार्क, जयपुर, मोबा. ९४१३१-५७-५६. Email: sureshkhanna56@yahoo.com

धम्मअजरामरः विपश्यना केंद्र, वीर तेजाजी नगर, दौराई, अजमेर-३०५००३; फोनः (०१४५) २४४३६०४. **संपर्कः** श्री कैलाश बैरवाल, मोबा. ९४१३२२८३४०, ९४६१५६१३४४, ९००११९६५५६. Email: kailashbairwal@yahoo.com

धम्मपुष्करः विपश्यना केन्द्र, ग्राम रेवत (केडेल), पुष्कर पर्वतसर रोड, पुष्कर, जि अजमेर. मोबा. +९१-९४१३३-०७५७०. फोनः +९१-१४५-२७८०५७०. **संपर्कः** १) श्री रवि तोषणीवाल, मोबा. ०९८२९०-७१७७८, Email: info@toshcon.com २) श्री अनिल धारीवाल, मोबा. ०९८२९०-२८२७५. फैक्सः ०१४५-२७८७१३१.

धम्मसोतः विपश्यना साधना संस्थान, राहका गांव, (निम्मोद पोलीस पोस्ट के पास) बल्लभगढ़-सोहना रोड, (सोहना से १२ कि.मी.), जिला- गुडगांव, सोहना, हरियाणा. मोबा. ९८१२६५५५९९, ९८१२६४१४००. (बल्लभगढ़ और सोहना से बस उपलब्ध है।) संपर्कः विपश्यना साधना संस्थान, रुम न. १०१५, १० वां तल, हेमकुंठ/मोदी टावर्स, ९८ नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-११००१९. फोनः **(०११)** २६४८-५०७१, २६४८-५०७२, २६४५-२७७२. फैक्सः २६४७०६५८. Email: info@sota.dhamma.org

धम्मपट्टान : विपश्यना साधना केंद्र, कम्मासपुर, जि. सोनीपत, हरियाणा, पिन-१३१००१. मोबा. ०९९९१८७४५२४, **संपर्कः** ऊपर धम्मसोत के संपर्क पर.

धम्मकारुणिकः विपश्यना साधना संस्थान, गव्हरमेंट स्कूल के पास, गाँव नेवल, डाक सैनिक स्कूल कुंजपुरा, करनाल-१३२००१; **संपर्कः** श्री वर्मा, ५, शक्ति कालोनी, एस.बी.आई. के पास, करनाल-१३२००१. टेली-फैक्सः ०१८४-२२५७५४३, २२५७५४४; मोबा. ९९९२०-००६०१. Email: info@karunika.dhamma.org;

धम्म हितकारीः रोहतक, हरियाणा

धम्मसिखरः हिमाचल विपश्यना केंद्र, धर्मकोट, मैकलोडगंज, धर्मशाला, जिला- कांगरा, पिन-१७६२१९ (हि. प्र.) फोनः **०१८९२-** २२१३०९, २२१३६८. मोबा. (सायं ४ से ५) ०९८५७०-१४०५१. Email: info@sikhara.dhamma.org;

धम्मसलिलः देहरादून विपश्यना केंद्र, जनतनवाला गांव, देहरादून कॅन्ट तथा संतला देवी मंदिर के पास, देहरादून-२४८००१. फोनः **०१३५**-२१०४५५५, २७१५१८९. **संपर्कः** १) श्री भंडारी, १६ टैगोर विला, चक्राता रोड, देहरादून-२४८००१. फोनः (०१३५) २७१५१८९, फैक्सः २७१५५८०. २) श्री गुप्ता, फोनः २६५३३६६. Email: info@salila.dhamma.org;

धम्मसुवत्थीः जेतवन विपश्यना साधना केंद्रः कटरा बाईपास रोड, बुद्धा इंटर कालेज के सामने, श्रावस्ती, पिन-२७१८४५; फोनः **(०५२५२)** २६५४३९, ०९३३५८३३३७५ Email: info@suvatthi.dhamma.org **संपर्कः** श्री मुरली मनोहर, मातन हेलीया. मोबाईल: ०९४१५०-३६८९६, ०९४१५७-५१०५३.

धम्मलक्खणः लखनऊ विपश्यना केंद्र, अस्ती रोड, बक्शी का तालाब, लखनऊ-२२७२०२. फोनः (०५२२) २९६८५२५. मोबा. ०९७९४५४५३३४. Email: info@lakkhana.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री जैन, ए-१०१, हेम्प्टन कोर्ट्स अपार्टमेंट्स, पिकैडिली होटल के पीछे, आलमबाग, लखनऊ-२२६ ००५, (उ.प्र.) फोनः नि. **(०५२२)**-२४२-४४०८, मोबा. ०९३३५९-०६३४१, ०९४१५०-३६८९६, ०९४१५७-५१०५३.

धम्मधजः पंजाब विपश्यना केंद्र, आनंदगढ़, पो. मेहलांवली-१४६११०, जिला- होशियारपुर. फोनः **०१८८२-**२७२३३३, मोबाइल: ९४६५१-४३४८८. Email: info@dhaja.dhamma.org

धम्म तिहारः नई दिल्ली जेल न. ४ तिहार, केन्द्रीय कारागृह, नई दिल्ली

धम्म रक्खकः नई दिल्ली नजफगढ़, पुलिस ट्रेनिंग कालेज

धम्मचक्कः विपश्यना साधना केंद्र, खरगीपुर गांव, पो. पियरी, चौबेपुर, (सारनाथ), वाराणसी. मोबाः ०९३०७०९३४८५, Email: info@cakka.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री गुप्ता, फोनः ०५४२-३२४६०८९. मोबा. ९३३६९-१४८४३, (प्रातः १० से सायं ६.) २) श्री प्रेम श्रीवास्तव, मोबाईल: ९२३५४-४१९८३.

धम्मकल्याणः कानपुर (उ. प्र.) अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, ढोड़ी घाट, हनुमान मंदिर के पास, गाँव एमा, पो. रूमा, कानपुर नगर- २०९४०२, (सेन्ट्रल रेलवे स्टेशन से २३ कि० मी० एवं रमादेवी चौराहा से १५ कि० मी० दूरी पर स्थित) फोनः ०७३८८-५४३७९३, ०७३८८-५४३७९५, मोबा. ०८९९५४८०१४९. Email: dhamma.kalyana@gmail.com, **संपर्कः** १) श्री अशोक साहू, मोबा. ०९८३९१-३८०८४, २) डा. ओ. पी गुप्ता, मोबा. ०९४५०१-३२४३६.

धम्मसिन्धुः कच्छ विपश्यना केंद्र, ग्राम- बाड़ा, मांडवी, जिला- कच्छ-३७०४७५. फोनः (कार्या.) (०२८३४) २७३३०३,

फैक्स: २२४४८८, २८८९११; **संपर्कः** फोनः **(०२८३४)** २२३०७६, २२३४०६, Email: info@sindhu.dhamma.org

धम्मकोट : सौराष्ट्र विपश्यना केंद्र, कोठारिया रोड, लोथडा गांव, राजकोट, गुजरात. फोनः ०२८१ -२७८२०४०, मोबाईलः ९३२७९-२३५४० (राजकोट से १५ कि.मी.) **संपर्कः** फोनः ०२८१- २२२०८६१६, मोबाईलः ९४२७२-२१५९१, फैक्सः २२२१३८४. Email: info@kota.dhamma.org

धम्मदिवाकरः उत्तर गुजरात विपश्यना केंद्र, मीट्ठा गाव, ता. और जिला- मेहसाणा, गुजरात; फोनः **(०२७६२)** २७२८००. Email: info@divakara.dhamma.org **संपर्कः** फोनः **(०२७६२)** २५४६३४, २५३३१५. मोबा. ०९४२९२३३०००,

धम्मसुरिन्दः सुरेंद्रनगर, गुजरात **संपर्कः**१) महासतीजी, फोनः (०२७५२) २४२०३०. २) डॉ. बविशी, फोनः २३२५६४.

धम्मभवनः संपर्कः १) 'धम्मभवन', ५ कालिंदी पार्क, अकोटा अतितिगृह के पीछे, अकोटा, बड़ोदा-३९००२०; फोनः (०२६५) २३४११८१. २) विट्ठलभाई पटेल, फोनः (०२६९२) मोबा. ९८२५०-२८०५७. Email: vvsou@hotmail.com

धम्म अम्बिका : विपश्यना ध्यान केंद्र, (१५ कि० मी० नवसारी तथा बिलीमोरा रेलवे स्टेशन) १) जी एल/१२ निलांजन काम्प्लेक्स, राधा किशन मंदिर के सामने, नूतन सोसायटी के पास, महर्षि अरविंद मार्ग दुधिया तलाव, नवसारी, २) श्री रत्नशीभाई के. पटेल, मोबा. ०९८२५०४४५३६, ३) श्री मोहनभाई पटेल, मोबा. ०९५३७२६६९०९.

धम्मपीठः गुर्जर विपश्यना केंद्र, ग्राम- रनोडा, ता. धोलका, जिला- अहमदाबाद- ३८७८१०, मोबा. ८९८००-०१११०, ८९८००-०१११२, ९४२६४-१९३९७. फोनः (०२७१४) २९४६९०. **संपर्कः** श्रीमती शशी तोडी, मोबा. ९८२४०-६५६६८. Email: info@pitha.dhamma.org

धम्मखेतः विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, (१२.६ किमी.) माइल स्टोन नागार्जुन सागर रोड, कुसुम नगर, वनस्थलीपुरम हैदराबाद-५०००७०, (आंध्र प्रदेश) फोनः **(०४०)** २४२४०२९०, ३२४६०७६२, ०९४९१५९४२४७, फैक्सः २४२४१७४६. Email: info@khetta.dhamma.org

धम्मसेतुः विपश्यना साधना केंद्र, ५३३, पझान- थंडलम रोड, थीरुनीरमलाई रोड, द्वारा, थीरुमुदीवक्कम, चेन्नई-६०००४४. फोनः ०४४-२४७८०९५३, २४७८०९५२, मोबाइलः ९४४४०-२१६२२, **संपर्कः** फोनः ०४४-४३४०-७०००, ४३४०-७००१, फैक्सः ९१-४४-४२०१-११७७. मोबा. ०९८४०७-५५५५५. Email: setu.dhamma@gmail.com;

धम्मपफुल्लः बैंगलोर विपश्यना केंद्र, अलूर-५६२१२३. (गाँव अलूर, अलूर पंचायत कार्यालय के पास) तुमकूर हाईवे के सामने दासनपुरा बैंगलोर उत्तर तालुका, (कर्नाटक). फोनः **(०८०)** २३७१-२३७७, २३७१७१०६, ९१-९७३९५९१५८० (सुबह १० से सायं ६ तक), ९२४२३-५७४२४ (सुबह ९ से दोपहर २ तथा सायं ४ से ६ तक), एवं ९३४३५-४५३८८ (सुबह ११ से दोपहर ३ तक) Email: info@paphulla.dhamma.org [बैंगलोर रेल्वे स्टेशन से २३ की.मी. दूर; मजेस्टिक बस स्टैंड के प्लेटफार्म २० से नं. २५६, २५८, २५८सी, २५८ के बस से तुमकूर हाईवे पर हिमालया ड्रग भवन तक, तथा वहां से अलूर गांव के लिए ऑटोरिक्शा मिलते हैं।]

धम्मनागाजुन : विपश्यना साधना केंद्र, हिल कॉलोनी, नागार्जुन सागर, जि. नालगोंडा, आंध्र प्रदेश, (हैदराबाद से १४०.४ किमी, बुद्धपार्क के पास, हिल कॉलोनी से हैदराबाद की तरफ ३ किमी, दूरी पर) पिन-५०८२०२. फोनः (८६८०) २७७९९९ मोबाः ०९९६३७७५६४५, ९४४०१- ३९३२९. Email: info@nagajjuna.dhamma.org

धम्मनिज्ञान : विपश्यना साधना केंद्र, इंदूर, पो. पोचाराम-५०३१८६, येदपल्ली मंडल, जि. निजामाबाद, फोनः **(०८४६७)** ३१६६६३, ९९०८५९६३३६. Email: info@nijjhana.dhamma.org

धम्मविजय : विपश्यना साधना केंद्र, विजयराय, पोस्ट- पेदावेगी मंडलम्, पिन-५३४४७५, जि. पश्चिम गोदावरी, (आंध्र प्रदेश). [विजयराय गांव एलुरु से १५ किमी, एलूरु चिंतलपुडी रोड पर. विजयराय बस स्टॅन्ड से ३ की. मी. दूरी पर धम्मविजया सेंटर हैं, बस स्टॅन्ड से ऑटो/टॅक्सी उपलब्ध हैं।] फोनः **(०८८१२)** २२५५२२; मोबा. ९४४१४-४९०४४

धम्मारामः विपश्यना अंतर्राष्ट्रीय साधना केंद्र, कुमुदावल्ली गांव, भीमावरम-भानुकू रोड, (भीमावराम के पास), मंडल -पाल कोडेरु, जि. पश्चिम गोदावरी, पिन-५३४२१०. फोनः ०८८१६- २३६५६६. Email: info@rama.dhamma.org

धम्म कोण्डञ्ञ : विपश्यना साधना केंद्र, कोंडापुर (व्हाया) संगारेड्डी, जि. मेडक - ५०२३०६. **संपर्कः** मोबा. ९३९२०-९३७९९, ९३९८३-१६१५५.

धम्मकेतनः विपश्यना साधना केंद्र, पो. मम्परा (व्हाया) कोडुकुलान्जी, चेन्नान्नूर, जि. अलपुज्झा. केरल-६८९५०८. फोनः (०४७९) २३५-१६१६. Email: info@ketana.dhamma.org **संपर्कः** १) (कार्यालय) **केरल विपश्यना समिती,** मायश्री, नेरेचथरा लाइन, पॅरनडोर रोड, एलमकरा पो. ऑ. कोची-६८२ ०२६. केरल फोनः (०४८४) २५३९८९१ २) श्री बी. रविंद्रन, मोबा. ९८४६५-६९८९१.

धम्म मधुराः मदुराई (धर्म की मधुरता) मदुराई

धम्मकानन : धम्मकानन विपश्यना केंद्र, वैनगंगा तट, रेंगाटोला, पो. गर्रा, बालाघाट. फोनः (०७६३२) २९२४६५; **संपर्कः** १) श्री हरीदास मेश्राम, १२६, रतन कुटी, गंगानगर रोड, बुढ़ी, बालाघाट-४८१००१, (म. प्र.) फोनः **(०७६३२)** २३९१६५, मोबाईलः ०९४२५१४००१५, Email: dineshbgt@hotmail.com २) श्री खोब्रागडे, मोबा. ०९४२४३-३६२४१.

धम्मकेतु : विपश्यना केंद्र, पोस्ट बॉक्स १६, थनौद, व्हाया-अंजोरा, जिला-दुर्ग, छत्तीसगढ़-४९१००१; (म.प्र.) फोनः (०७८८) ३२०५५१३, मोबा. ९५८९८४२७३७. Email: info@ketu.dhamma.org **संपर्कः** १) धम्मकेतु, (उपरोक्त केंद्र के पते पर) तथा मोबा. ०९४२५२-३४७५७, ०९०९८९-२०२४६.

धम्मबल : विपश्यना साधना केंद्र, भेडाघाट थाने से एक किलोमीटर, बापट मार्ग, भेडाघाट, जबलपुर. मोबा. ९३००५०६२५३. **संपर्कः** विपश्यना ट्रस्ट, जबलपुर, द्वारा - मधु मेडिकल स्टोर्स, मेडिसिन काम्प्लेक्स, शास्त्रीब्रिज के पास, मॉडल रोड, बैंक ऑफ बड़ौदा के बाजू में, जबलपुर-०२ फोनः ०७६१-४००६२५२, मोबा. ९९८१५-९८३५२, ९४२४३-५५२१४.

धम्मलिच्छवी : वैशाली विपश्यना केंद्र, लदौरा ग्राम, लदौरा पाक्री, मुजफ्फरपुर-८४३११३. फोनः ०९९३११६१२९०.

संपर्कः श्री गोयन्का, जेनीथ आटो सर्विस, अधोरिया बाजार, पो. रामना, मुजफ्फरपुर, पिन-८४२००२. फोनः **०६२१**-२२४०-२१५, २२४७३६०. Email: info@licchavi.dhamma.org

धम्मबोधिः बोधगया अंतर्राष्ट्रीय विपश्यना साधना केंद्र, मगध विश्वविद्यालय के समीप, पो. मगध विश्वविद्यालय, गया-ढोबी रोड, बोधगया-८२४२३४, मोबा. ९४७१६-०३५३१, Email: info@bodhi.dhamma.org **संपर्कः** फोनः **(०६३१)** २२००४३७, ९९५५९-११५५६.

धम्मपुब्बोत्तरः मिजोरम विपश्यना साधना केंद, कमलानगर-२, सीएडीसी, चांगतै-सी, जि. लोंगतलाई, मिजोरम -७९६७७२. Email: mvmc.knagar@gmail.com, **संपर्कः** दिगंबर चकमा, फोनः ०३७२-२५६३६८३. मोबा. ०९४३६७-६३७०८,

धम्मपुरीः त्रिपुरा विपश्यना मेडिटेशन सेंटर, पो. मचमरा, जि. उत्तर त्रिपुरा, पिनः ७९९२६५. मोबा. ०९८६२६-४६७६४, Email: Info@Puri.dhamma.org **संपर्कः** श्री देवान मोहन, फोनः ०३८१-२३००४४१, मोबा. ०९८६२१-५४८८२, ०९४०२५-२७१९१.

धम्मगंगाः विपश्यना केंद्र, सोदपुर, हरिश्चन्द्र दत्ता रोड, पनिहटी, बारो मन्दिर घाट, कोलकाता-७००११४. फोनः **(०३३)** २५५३२८५५. Email: info@ganga.dhamma.org **संपर्कः** कार्यालयः श्री काजड़िया, २२, बोनफील्ड लेन, दूसरा तल्ला, कोलकाता-७००००१, फोनः **(०३३)** २२४२३२२५/४५६१ (२) श्री तोदी, १२३A, मोतीलाल नेहरू रोड, कोलकाता-२९ फोन नि. २४८५४१७९. मोबा. ९८३१४-४७७०१.

धम्मबंगः कोलकाता, पश्चिम बंगाल **संपर्कः** धम्मगंगा केंद्र.

धम्मपालः धम्मपाल विपश्यना केंद्र, केरवा डैम के पीछे, ग्राम दौलतपुरा, भोपाल-४६२ ०४४, Email: dhammapal@airtelmail.in; **संपर्कः** मोबा. ९८९३२-८९०४९, फोनः (०७५५) २४६८०५३, २४६२३५१, फैक्सः २४६-८१९७. ऑन लाइन आवेदनः http://www.dhamma.org/en/schedules/schpala.shtml

धम्ममालवा : इंदौर (म.प्र.) विपश्यना केंद्र, ग्राम - जंबूडी हप्सी, गोमटगिरी के आगे, पितृ पर्वत के सामने, हातोद रोड, इंदौर-४५२००३. **संपर्कः** १) इंदौर विपश्यना इंटरनेशनल फाउंडेशन, ट्रस्ट, "लाभगंगा" ५८२, एम. जी. रोड इंदौर (म.प्र.) फोनः (०७३१) ४२७३३१३. Email: info@malava.dhamma.org; dhammamalava@gmail.com २) श्री शंभुदयाल शर्मा, मोबा. ९८९३१-२९८८८.

धम्मरत : (रतलाम से १५ कि.मी.) साई मंदीर के पीछे, ग्राम धमनोद ता. साईलन जि. रतलाम-४५७००१, फैक्सः ०७४१२ ४०३८८२, मोबा. ०९८२७५-३५२५७. Email: dhamm.rata@gmail.com **संपर्कः** रतलाम विपश्यना समिति, द्वारा डा वाधवानी क्लीनीक, ११७, स्टेशन रोड, रतलाम-४५७००१ मोबा. ०९९८१०-८४८२२, ९४२५३-६४९५६.

धम्मउपवनः बाराचकिया, बिहार **संपर्कः** फोनः निवास (०६२१) २४४ ९७५; ५५२१ ०७७०

धम्मउत्कलः विपश्यना साधना केंद्र, ग्राम चानबेरा पो. अमसेना, (व्हाया) खरियार रोड जिलाः नुआपाडा, उड़ीसा-७६६१०६, मोबा. ०९४०६२३७८९६, संपर्कः १) श्री. एस. एन. अग्रवाल, मोबा. ०९४३८६१०००७, २) श्री. पुरुषोत्तम जे. मोबा. ०९४३७०-७०५०५,

धम्मसिक्किमः विपश्यना साधना केंद्र, पो. ऑ. आहो सेन्ती, ग्राम, सेन्ती ईस्ट सिक्किम- ७३७१३५, **संपर्कः** शीलादेवी चौरसिया, मोबा. ०९८३०७-०६४८१, ०९७४८४-६१७८७, ०९४३४३-३९३०३, ०९४३४८-६२२२६. Email: basantigorsia@hotmail.com

धर्मशृंगः नेपाल विपश्यना केंद्र, मुहान पोखरी, बूढ़ानीलकंठ, पो. बा. १२८९६, काठमांडू, फोनः **९७७ (०१)** ४३७१६५५, ४३७१००७, ४२५०५८१, ४२२५४९०; निवासः ४२२४७२०, ४२२६३१४. Email: info@sringa.dhamma.org; **संपर्कः** फोनः २५०५८१, २२५४९०, नि.२२१२९०. फैक्सः २२४७२०, २२६३१४.

धम्मजननीः लुंबिनी विपश्यना केंद्र, लुंबिनी (पीस फ्लेम के पास), रुपनदेही, लुंबिनी अंचल, नेपाल. Email: info@janani.dhamma.org फोनः ९७७ (७१) ५८०२८२. **संपर्कः** नेपाल. फोनः **९७७ (७१)** ५४१५४९.

धम्मविराट : पूर्वांचल विपश्यना केंद्र, फुलबरी टोल, बस पार्क के दक्षिण की ओर इथारी- ७ संसरी, नेपालः फोनः **[९७७]** (२५) ५८५५२१; Email: info@birata.dhamma.org; **संपर्कः** १) श्री मुंदडा, फोनः **[९७७]** (२१) ५२५४८६, ५२७६७१. फैक्सः ५२६४६६; २) श्री गोयल, फोनः दूकान **[९७७]**(२५)५२३५२८, नि. ५२६८२९.

धम्मतराई : वीरगंज विपश्यना केंद्र, परवानीपुर, पारसा, नेपाल. Email: info@tarai.dhamma.org **संपर्कः** १) कार्यालयः संदीप बिल्डींग, आदर्श नगर, पो. बा. नं. ३२. फोनः ०५१-५२१८८४. फैक्सः ०५१-५८०४६५. मोबा. ९८०४२-४५७६

धम्मचितवन : चितवन विपश्यना केंद्र, मंगलपुर व्ही.डी.सी. वार्ड नं ८, विजयनगर बाजार के समीप, चितवन, नेपाल Email: info@citavana.dhamma.org **संपर्कः** १) श्री महाराजन, फोनः ९७७(५६) ५२०२९४, ५२८२९४

धम्मकीर्त्ति : कीर्तिपुर विपश्यना केंद्र, देवधोका, कीर्तिपुर, नेपाल. **संपर्कः** श्री महर्जन, समाल तोले, वार्ड नं. ६, कीर्तिपुर.

धम्मपोखरा : पोखर विपश्यना केंद्र, पचभैया लेखनाथ नगरपालिका, पोखरा, कसकी, नेपाल. **संपर्कः** श्री नारा गुरुंग फोनः [९७७] (०६१) ६९१९७२, मोबा. ९८४६२-३२३८३, ९८४१२-५५६८८. Email: info@pokhara.dhamma.org

Cambodia

Dhamma Laṭṭhikā, Battambang Vipassana Centre, Trungmorn Mountain, National Route 10, District Phnom Sampeau, Battambang, Cambodia **Contact:** Phnom-Penh office: Mrs. Nary POC, Street 350, #35, Beng Keng Kang III, Khan Chamkar Morn, Phnom-Penh, Cambodia. P.O. Box 1014 Phnom-Penh, Cambodia Tel. [855] (012) 689 732; poc_nary@hotmail.com; **Local Contact:** Off: Tel: [855] (536) 488 588, 2. Mr. Sochet Kuoch, Tel: [855] (092) 931 647, [855] (012) 995 269 Email: mientan2000@yahoo.co.uk and ms_apsara@yahoo.com

Hong Kong

Dhamma Muttā, G.P.O. Box 5185, Hong Kong Tel: 852-2671 7031; Fax: 852-8147 3312 Email: info@hk.dhamma.org

Indonesia

Dhamma Jāvā, Jl. H. Achmad No.99; Kampung Bojong, Gunung Geulis, Kecamatan Sukaraja, Cisarua-Bogor, Indonesia. Tel: [62] (0251) 827-1008; Fax: [62] (021) 581-6663; Website: www.java.dhamma.org **Course Registration Office Address:** IVMF (Indonesia Vipassana Meditation Foundation), Jl. Tanjung Duren Barat I, No. 27 A, Lt. 4, Jakarta Barat, Indonesia Tel : [62] (021) 7066 3290 (7am to 10pm); Fax: [62] (021) 4585 7618 Email: info@java.dhamma.org

Iran

Dhamma Īran, Teheran Dhamma House Tehran Mehrshahr, Eram Bolvar, 219 Road, No. 158 Tel: 98-261-34026 97; website: www.iran.dhamma.org Email: info@iran.dhamma.org

Israel

Dhamma Pamoda, Kibbutz Deganya-B, Jordan Valley, Israel **City Contact:** Israel Vipassana Trust, P.O. Box 75, Ramat-Gan 52100, Israel Website: www.il.dhamma.org/os/Vipassana-centre-eng.asp Email: info@il.dhamma.org

Dhamma Korea, Choongbook, Korea. Dabo Temple, 17-1, samsong-ri, cheongcheon-myun, gwaesan-koon, choongbook, Korea. Tel: +82-010-8912-3566, +82-010-3044-8396 Website: www.kr.dhamma.org Email: dhammakor@gmail.com

Japan,

Dhamma Bhānu, Japan Vipassana Meditation Centre, Iwakamiyoku, Hatta, Mizucho-cho, Funai-gun, Kyoto 622 0324 Tel/Fax: [81] (0771) 86 0765, Email: info@bhanu.dhamma.org

Dhammādicca, 782-1 Kaminogo, Mutsuzawa-machi, Chosei-gun, Chiba, Japan 299 4413. Tel: [81] (475) 403 611. Website: www.adicca.dhamma.org

Malaysia

Dhamma Malaya, Malaysia Vipassana Centre, Centre Address: Gambang Plantation, opp. Univ. M.P. Lebuhraya MEC, Gambang, Pahang, Malaysia **Office Address:** No., 30B, Jalan SM12, Taman Sri Manja, 46000 Petaling Jaya, Malaysia. Tel: [60] (16) 341 4776 (English Enquiry) Tel: [60] (12) 339 0089 (Mandarin Enquiry) Fax: [60] (3) 7785 1218; Website: www.malaya.dhamma.org Email: info@malaya.dhamma.org

Mongolia

Dhamma Mahāna, Vipassana center trust of Mongolia. Eronkhy said Amaryn Gudamj, Soyolyn Tov Orgoo, 9th floor, Suite 909, Mongolia Tel: [976] 9191 5892, 9909 9374; **Contact:** Central Post Office, P. O. Box 2146 Ulaanbaatar 211213, Mongolia Email: info@mahana.dhamma.org

Myanmar

Dhamma Joti, Vipassana Centre, Wingaba Yele Kyaung, Nga Htat Gyi Pagoda Road, Bahan, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 549 290, 546660; Office: No. 77, Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar. Fax: [95] (1) 248 174 **Contact:** Mr. Banwari Goenka, Goenka Geha, 77 Shwe Bon Tha Street, Yangon, Myanmar Tel: [95] (1) 241 708, 253 601, 245 327, 245 201; Res. [95] (1) 556 920, 555 078, 554 459; Tel/Fax: Res. [95] (01) 556 920; Off. 248 174; Mobile: 95950-13929; Email: bandoola@mptmail.net.mm; goenka@ mptmail.net.mm Email: dhammajoti@mptmail.net.mm

Dhamma Ratana, Oak Pho Monastery, Myoma Quarter, Mogok, Myanmar **Contact:** Dr. Myo Aung, Shansu Quarter, Mogok. Mobile: [95] (09) 6970 840, 9031 861;

Dhamma Maṇḍapa, Bhamo Monastery, Bawdigone, Near Mandalay Arts &

Science University, 39th Street, Mahar Aung Mye Tsp., Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 39694 Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Maṇḍala, Yetagun Taung, Mandalay, Myanmar, Tel: [95] (02) 57655 **Contact:** Dr Mya Maung, House No 33, 25th Street, (Between 81 and 82nd Street), Mandalay, Myanmar Tel: [95] (02) 57655, Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Makuṭa, Mindadar Quarter, Mogok.Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (09) 80-31861. Email: info@joti.dhamma.org

Dhamma Manorama, Main road to Maubin University, Maubin, Myanmar. Tel: **Contact:** U Hla Myint Tin, Headmaster, State High School, Maubin, Myanmar. Tel: [95] (045) 30470

Dhamma Mahimā, Yechan Oo Village, Mandalay-Lashio Road, Pyin Oo Lwin, Mandalay Division, Myanmar. Tel: [95] (085) 21501. Email: info@mandala.dhamma.org

Dhamma Manohara, Aung Tha Ya Qr, Thanbyu-Za Yet, Mon State **Contact:** Daw Khin Kyu Kyu Khine, No.64 Aungsan Road, Set-Thit Qr, Thanbyu-Zayet, Mon State, Myanmar. Tel: [95] (057) 25607

Dhamma Nidhi, Plot No. N71-72, Off Yangon-Pyay Road, Pyinma Ngu Sakyet Kwin, In Dagaw Village, Bago District, Myanmar. **Contact:** Moe Mya Mya (Micky), 262-264, Pyay Road, Dagon Centre, Block A, 3rd Floor, Sanchaung Township, Yangon11111, Myanmar. Tel: 95-1-503873, 503516~9, Email: dagon@mptmail.net.mm

Dhamma Ñāṇadhaja, Shwe Taung Oo Hill, Yin Ma Bin Township, Monywa District, Sagaing Division, Myanmar **Contact:** Dhamma Joti Vipassana Centre

Dhamma Lābha, Lasho, Myanmar

Dhamma Magga, Near Yangon, Off Yangon Pegu Highway, Myanmar

Dhamma Mahāpabbata, Taunggyi, Shan State, Myanmar

Dhamma Cetiya Paṭṭhāra, Kaytho, Myanmar

Dhamma Myuradipa, Irrawadi Division, Myanmar

Dhamma Pabbata, Muse, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha, Insein Central Jail, Yangon, Myanmar

Dhamma Hita Sukha Geha-2, Central Jail Tharawaddy, Myanmar

Dhamma Rakkhita, Thayawaddi Prison, Bago, Myanmar

Dhamma Vimutti, Mandalay, Myanmar

Philippines

Dhamma Phala, Philippines Email: info@ph.dhamma.org

Sri Lanka

Dhamma Kūṭa, Vipassana Meditation Centre, Mowbray, Hindagala, Peradeniya, Sri Lanka Tel/Fax: [94] (081) 238 5774; Tel: [94] (060) 280 0057; Website: www.lanka.com/dhamma/dhammakuta Email: dhamma@sltnet.lk

Dhamma Sobhā, Vipassana Meditation Centre Balika Vidyala Road, Pahala Kosgama, Kosgama, Sri Lanka Tel: [94] (36) 225-3955 Email: dhammasobhavmc@gmail.com

Dhamma Anurādha, Ichchankulama Wewa Road, Kalattewa, Kurundankulama, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-6959; **Contact:** Mr. D.H. Henry, Opposite School, Wannithammannawa, Anuradhapura, Sri Lanka. Tel: [94] (25) 222-1887; Mobile. [94] (71) 418-2094. Website: www.anuradha.dhamma.org Email: info@anuradha.dhamma.org

Taiwan

Dhammodaya, No. 35, Lane 280, C hung-Ho Street, Section 2, Ta-Nan, Hsin She, Taichung 426, P. O Box No. 21, Taiwan Tel: [886] (4) 581 4265, 582 3932; Website: www.udaya.dhamma.org Email: dhammodaya@gmail.com

Dhamma Vikāsa, Taiwan Vipassana Centre - Dhamma Vikasa No. 1-1, Lane 100, Dingnong Road Laonong Village Liouguei Township Kaohsiung County

Taiwan Republic of China Tel: [886] 7-688 1878 Fax: [886] 7-688 1879 Email: info@vikasa.dhamma.org

Thailand,

Dhamma Kamala, Thailand Vipassana Centre, 200 Yoo Pha Suk Road, Ban Nuen Pha Suk, Tambon Dong Khi Lek, Muang District, Prachinburi Province, 25000, Thailand Tel. [66] (037) 403- 514-6, [66] (037) 403 185; Website: http://www.kamala.dhamma.org/ Email: info@kamala.dhamma.org

Dhamma Ābhā, 138 Ban Huay Plu, Tambon Kaengsobha, Wangton District, Pitsanulok Province, 65220, Thailand Tel : [66] (81) 605-5576, [66] (86) 928-6077; Fax : [66] (55) 268 049; Website: http://www.abha.dhamma.org/ Email: info@abha.dhamma.org

Dhamma Suvaṇṇa, 112 Moo 1, Tambon Kong, Nongrua District, Khonkaen Province, 40240, Thailand Tel [66] (08) 9186-4499, [66] (08) 6233-4256; Fax [66] (043) 242-288; Website: http://www.suvanna.dhamma.org/ Email: info@suvanna.dhamma.org

Dhamma Kañcana, Mooban Wang Kayai, Tambon Prangpley, Sangklaburi District, Kanchanaburi Province, Thailand Tel. [66] (08) 5046-3111 Fax [66](02) 993-2700 Email: info@kancana.dhamma.org

Dhamma Dhānī, 42/660 KC Garden Home Housing Estate, Nimit Mai Road, East Samwa Sub-district, Klongsamwa District, Bangkok 10510, Thailand Tel. [66] (02) 993-2711 Fax [66] (02) 993-2700 Email: info@dhani.dhamma.org

Dhamma Sīmanta, Chiengmai, Thailand **Contact:** Mr. Vitcha Klinpratoom, 67/86, Paholyotin 69, Anusaowaree, Bangkhen, BKK 10220 Thailand Tel: [66] (81) 645 7896; Fax: [66] (2) 279 2968; Email: vitchcha@yahoo.com Email: info@simanta.dhamma.org

Dhamma Porāṇo: A meditator has donated six acres of land near Nakorn Sri Dhammaraj (the name of the city), an important and ancient sea-port.

Dhamma Puneti, Udon Province, Thailand

Dhamma Canda Pabhā, Chantaburi, an eastern town about 245 kilometres from Bangkok

Australia & New Zealand,

Dhamma Bhūmi, Vipassana Centre, P. O. Box 103, Blackheath, NSW 2785, Australia Tel: [61] (02) 4787 7436; Fax: [61] (02) 4787 7221 Website: www.bhumi.dhamma.org Email: info@bhumi.dhamma.org

Dhamma Rasmi, Vipassana Centre Queensland, P. O. Box 119, Rules Road, Pomona, Qld 4568, Australia Tel: [61] (07) 5485 2452; Fax: [61] (07) 5485 2907 Website: www.rasmi.dhamma.org Email: info@rasmi.dhamma.org

Dhamma Pabhā, Vipassana Centre Tasmania, GPO Box 6, Hobart, Tasmania 7001, Australia Tel: [61] (03) 6263 6785; Website: www.pabha.dhamma.org Course registration & information: [61] (03) 6228-6535 or (03) 6266-4343 Email: info@pabha.dhamma.org

Dhamma Āloka, P. O. Box 11, Woori Yallock, VIC 3139, Australia Tel: [61] (03) 5961 5722; Fax: [61] (03) 5961 5765 Website: www.aloka.dhamma.org Email: info@aloka.dhamma.org

Dhamma Ujjala, Mail to: PO Box 10292, BC Gouger Street, Adelaide SA 5000, [Lot 52, Emu Flat Road, Clare SA 5453, Australia] **Tel Contact:** Anne Blizzard [61] (0)8 8278 8278; Email: info@ujjala.dhamma.org

Dhamma Padīpa, Vipassana Foundation of WA, Australia, Website: www.dhamma.org.au **Contact:** Andrew Parry C/- 13 Goldsmith Road, Claremont, WA 6010, Australia. Tel: [61]-(8)-9388 9151. Email: andparry@optusnet.com.au Email: info@padipa.dhamma.org

Dhamma Medinī, 153 Burnside Road, RD3 Kaukapakapa, Rodney District, New Zealand Tel: [64] (09) 420 5319; Fax: [64] (09) 420 5320; Website: www.medini.dhamma.org Email: info@medini.dhamma.org

Dhamma Passaddhi, Northern Rivers region, New South Wales Email: info@passaddhi.dhamma.org

Europe,

Dhamma Dīpa, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Tel: [44] (01989) 730 234; male AT bungalow: [44] (01989) 730 204; female AT bungalow: [44] (01989) 731 024; Fax: [44] (01989) 730 450; Website: www.dipa.dhamma.org Email: info@dipa.dhamma.org

Dhamma Padhāna, European Long-Course Centre, Harewood End, Herefordshire, HR2 8JS, UK Website: www.eu.region.dhamma.org/os username <oldstudent> password <behappy> Email: info@padhana.dhamma.org

Dhamma Dvāra, Vipassana Zentrum, Alte Strasse 6, 08606 Triebel, Germany Tel: [49] (37434) 79770; Website: www.dvara.dhamma.org Email: info@dvara.dhamma.org

Dhamma Mahī, France Vipassana Centre, Le Bois Planté, Louesme, F-89350 Champignelles, France. Tel: [33] (0386) 457 514; Fax [33] (0386) 457 620; Website: www.mahi.dhamma.org Email: info@mahi.dhamma.org

Dhamma Nilaya,, 6, Chemin de la Moinerie, 77120, Saints, France Tel/Fax: [33] 1 6475 1370; Mobile: 0609899079 Email: vcjuly2001@orange.fr

Dhamma Aṭala, Vipassana Centre, SP29, Lutirano 15 50034 Lutirano (Fi) Italy Tel: Off. [39] (055) 804 818; Website: www.atala.dhamma.org Email: info@atala.dhamma.org

Dhamma Sumeru, Centre Vipassana, No. 140, Ch-2610 Mont-Soleil, Switzerland Tel: [41] (32) 941 1670; Website: www.sumeru.dhamma.org Email: info@sumeru.dhamma.org Registration office: registration@sumeru.dhamma.org

Dhamma Neru, Centro de Meditación Vipassana, Cami Cam Ram, Els Bruguers, A.C.29, Santa Maria de Palautordera, 08460 Barcelona, Spain Tel: [34] (93) 848 2695; Website: www.neru.dhamma.org Email: info@neru.dhamma.org

Dhamma Pajjota, Dhamma Pajjota, Belgium, Light (or Torch) of Dhamma, Vipassana Centrum, Driepaal 3, 3650 Dilsen-Stokkem, Belgium. Tel: [32] (0) 89 518 230; Website: www.pajjota.dhamma.org Email: info@pajjota.dhamma.org

Dhamma Sobhana, Lyckebygården, S-599 93 Ödeshög, Sweden. Tel: [46] (143) 211 36; Website: www.sobhana.dhamma.org Email: info@sobhana.dhamma.org

Dhamma Pallava, Vipassana Poland **Contact:** Malgorzata Myc 02-798 Warszawa, Ekologiczna 8 m.79 Poland Tel: [48](22) 408 22 48 Mobile: [48] 505-830-915 Email: info@pl.dhamma.org

Dhamma Sukhakari, East Anglia (UK)

North America

Dhamma Dharā, VMC, 386 Colrain-Shelburne Road, Shelburne MA 01370-9672, USA Tel: [1] (413) 625 2160; Fax: [1] (413) 625 2170; Website: www.dhara.dhamma.org Email: info@dhara.dhamma.org

Dhamma Kuñja, Northwest Vipassana Center, 445 Gore Road, Onalaska, WA 98570, USA Tel/Fax: [1] (360) 978 5434, Reg Fax: [1] (360) 242-5988; Website: www.kunja.dhamma.org Email: info@kunja.dhamma.org

Dhamma Mahāvana, California Vipassana Center 58503 Road 225, North Fork, California, 93643 Mailing address: P. O. Box 1167, North Fork, CA 93643, USA Tel: [1] (559) 877 4386; Fax [1] (559) 877 4387; Website: www.mahavana.dhamma.org Email: info@mahavana.dhamma.org

Dhamma Sirī, Southwest Vipassana Center, 10850 County Road 155 A Kaufman, TX 75142, USA Mailing address: P. O. Box 7659, Dallas, TX 75209, USA Tel: [1] (972) 962-8858; Fax: [1] (972) 346-8020 (registration); [1] (972) 932-7868 (center); Website: www.siri.dhamma.org Email: info@siri.dhamma.org

Dhamma Surabhi, Vipassana Meditation Center, P. O. Box 699, Merritt, BC V1K 1B8, Canada Tel: [1] (250) 378 4506; Website: www.surabhi.dhamma.org Email: info@surabhi.dhamma.org

Dhamma Maṇḍa, Northern California Vipassana Center, Mailing address: P. O. Box 265, Cobb, Ca 95426, USA Physical address: 10343 Highway 175, Kelseyville, CA 95451, USA Tel: [1] (707) 928-9981; Website: www.manda.dhamma.org Email: info@manda.dhamma.org

Dhamma Suttama, Vipassana Meditation Centre 810, Côte Azélie, Notre-Dame-de-Bonsecours, Montebello, (Québec), J0V 1L0, Canada Tél. 1-819-423-1411, Fax. 1- 819- 423- 1312 Website: www.suttama.dhamma.org Email: info@suttama.dhamma.org

Dhamma Pakāsa, Illinois Vipassana Meditation Center, 10076 Fish Hatchery Road, Pecatonica, IL 61063, USA Tel: [1] (815) 489-0420; Fax [1] (360) 283-7068 Website: www.pakasa.dhamma.org Email: info@pakasa.dhamma.org

Dhamma Toraṇa, Ontario Vipassana Centre, 6486 Simcoe County Road 56, Egbert, Ontario, L0L 1N0 Canada Tel: [1] (705) 434 9850; Website: www.torana.dhamma.org Email: info@torana.dhamma.org

Dhamma Vaddhana, Southern California Vipassana Center, P.O. Box 486, Joshua Tree, CA 92252, USA. Tel: [1] (760) 362-4615;; Website: www.vaddhana.dhamma.org Email: info@vaddhana.dhamma.org

Dhamma Patāpa, Southeast Vipassana Trust, Jessup, Georgia, South East USA Website: www.patapa.dhamma.org

Dhamma Modana, Canada Tel: [1] (250) 483-7522; Website: www.modana.dhamma.org Email: info@modana.dhamma.org

Dhamma Karunā, Alberta Vipassana Foundation Tel: [1](403) 283-1889 Fax: [1](403) 206-7453 Email: registration@ab.ca.dhamma.org

Latin America,

Dhamma Santi, Centro de Meditação Vipassana, Miguel Pereira, Brazil Tel: [55] (24) 2468 1188. Website: www.santi.dhamma.org Email: info@santi.dhamma.org

Dhamma Makaranda, Centro de Meditación Vipassana, Valle de Bravo, Mexico Tel: [52] (726) 1-032017 Registration and information: Vipassana Mexico, P. O. Box 202, 62520 Tepoztlan, Morelos Tel/Fax: [52] (739) 395-2677; Website: www.makaranda.dhamma.org Email: info@makaranda.dhamma.org

Dhamma Pasanna, Melipilla, Chile Email: info@pasanna.dhamma.org

Dhamma Sukhadā, Buenos Aires, Argentina, **Contact:** Vipassana Argentina, Tel: [54] (11) 6385-0261; Email: info@ar.dhamma.org

Dhamma Veṇuvana, Centro de Meditación Vipassana, 90 minutes from Caracas, Sector Los Naranjos de Tasajera, Cerca de La Victoria, Estado Aragua, Venezuela. (See map on the website) Tel: [58] (212) 414-5678 For information and registration: Calle La Iglesia con Av. Francisco Solano, Torre Centro Solano Plaza, Of. 7D, Sabana Grande, Caracas, Venezuela. Phone: [58](212) 716-5988, Fax: 762-7235 Website: www.venuvana.dhamma.org Email: info@venuvana.dhamma.org

Dhamma Suriya, Centro de Meditación Vipassana, Cieneguilla, Lima, Perú Email: info@suriya.dhamma.org

South Africa

Dhamma Patākā, (Rustig) Brandwacht, Worcester, 6850, P. O. Box 1771, Worcester 6849, South Africa Tel: [27] (23) 347 5446; **Contact:** Ms. Shanti Mather, Tel/Fax: [27] (028) 423 3449; Website: www.pataka.dhamma.org Email: info@pataka.dhamma.org

Russia

Dhamma Dullabha: Avsyunino Village, Dhamma Dullabha (formerly camp "Druzba") 142 645 Russian Federation, Phones +7-968-894-23-92, +7-901-543-16-27

आचार्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का एवं श्रीमती इलायचीदेवी गोयन्का

श्री सत्यनारायणजी गोयन्का का जन्म म्यंमा (बर्मा) के मांडले शहर में १९२४ में हुआ। १०वीं कक्षा में सारे बर्मा में सर्वप्रथम आने पर भी पारिवारिक कारणों से आगे की पढ़ाई न कर सके। उन्होंने कम उम्र में ही अनेक वाणिज्यिक और औद्योगिक संस्थानों की स्थापना की और खूब धन अर्जित किया। अनेक सामाजिक तथा सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना की। तनावों के कारण शिरोरोग (Migraine) के शिकार हुए, जिसका उपचार बर्मा के ही नहीं, बल्कि विश्व के प्रसिद्ध डॉक्टर भी न कर सके। तब किसी ने उन्हें 'विपश्यना' की ओर मोड़ा, जो आज उनके तथा अनेकों के कल्याण का कारण बन गयी है।

सयाजी ऊ बा खिन से श्री गोयन्काजी ने १९५५ में विपश्यना विद्या सीखी और चौदह वर्षों तक उनके चरणों में बैठ कर अभ्यास करने के साथ बुद्धवाणी का भी अध्ययन किया। १९६९ में वे भारत आये और मुंबई में पहला शिविर लगा। तत्पश्चात शिविरों का तांता लग गया। १९७६ में इगतपुरी में पहला निवासीय विपश्यना केंद्र बना और अब तक विश्वभर में लगभग १६७ केंद्र बन गये हैं तथा नित नये बनते जा रहे हैं, जहां प्रशिक्षित किये हुए लगभग १२०० विपश्यनाचार्यों के माध्यम से विश्व की ५९ भाषाओं में १०-दिवसीय शिविरों के अतिरिक्त, कई केंद्रों पर २०, ३०, ४५, ६० दिन के शिविर लगते हैं। सब का संचालन निःशुल्क होता है। भोजन, निवासादि का खर्च शिविर से लाभान्वित साधकों के स्वैच्छिक अनुदान से चलता है। इसके सर्वहितकारी स्वरूप को देख कर विश्व की अनेक जेलों और स्कूलों में ही नहीं, पुलिसकर्मियों, जजों, सरकारी अधिकारियों आदि के लिए भी शिविर लगाये जाते हैं।

ISBN 978-81-7414-343-3

VRI - H72